'प्रसाद'

और

उनके नाटक

लेखक

प्रो० केसरी कुमार, एम० ए०

पटना विश्वविद्यालय के कुलपति

श्रीचन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह जी

के

हि

न्दी

प्रे

मी

क

रों

में

सा

द

र

केसरी कुमार

अपनी दुलारी बहन शशि के स्नेह को यह
पृष्ठ, जिसकी पढ़ाई के सिलसिले में
पुस्तक ने आरम्भिक रूप
धारण किया

अपनी बात

दिन के उपरान्त किसान घर आता है—पुलकित मन, शिथिल चरण। हर्षित होता है—आज इतनी भूमि चौरस की। फसल? भगवान् मालिक है। शेष कर्म? कल, कुछ हम और कुछ अन्य जन.......। आज अपने उदार पाठकों के करों में आलोचना की यह तीसरी पुस्तक रखते हमे वैसा ही हर्ष हो रहा है जैसा खेत मे दिन भर काम कर घर लौटे हुए किसान को होता है। प्रयत्न करके भी जिसके दर्शन न पा सका, इच्छा रख कर भी जिसके समक्ष अपनी शंकाओं को न रख सका और जो स्वयं हिन्दी साहित्य के भाल पर विजय का तिलक लगा कर भी अपने प्राप्य से वंचित रहा उस अमर साहित्यिक के प्रति हृदय में उठने वाले प्रश्नों के उत्तर ढूँढ कर संतोष अनुभव करना हमारे बेवश मन के लिए स्वाभाविक है।

यों तो पुस्तक का आरम्भ बहुत पहले ही हो चुका था और हम धीरे-धीरे इसके साथ बढ़ना चाहते थे; किन्तु हमारे मित्र प्रकाशक के हठ और विद्यार्थियो के आग्रह ने एसा होने न दिया। फलस्वरूप पुस्तक के पूर्वकल्पित रूप को संक्षिप्तता देनी पड़ी। 'प्रसाद'—साहित्य के अन्य मीमांसकों की कृतियों में विस्तृत रूप से प्रतिपादित विषयों को इस रचना में संकुचित कर दिया गया है और उपेक्षित अंगों को अपेक्षित मान मिला है। अपूर्णता तो मानव का अपरिहार्य अंग है, फिर भी इस

पुस्तक में 'प्रसाद' के अध्ययन के लिए यथासम्भव अधिक से अधिक भाव-सामग्री देने की चेष्टा की गई है। इन विचार-विन्दुओं की ओर संकेत कर हम समर्थ समालोचकों से अधिक से अधिक उत्कृष्ट रचना की आशा करते हैं।

अंत में हम श्रीलक्ष्मी नारायण प्रेस, बनारस के व्यवस्थापक श्री हरी माधव सप्रे के प्रति, उनके निश्छल प्रयत्नों के लिए, अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

विहार नेशनल कॉलेज, पटना
१५-६-१९४५

—केसरी कुमार

विषय-सूची

जयशंकर प्रसाद्

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं॥

—प्रसाद

हिन्दी के जागरूक युगप्रवर्तकों में भारतेन्दु के बाद जयशंकर प्रसाद ही एक ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हुए जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के सभी आहत अंगों पर पट्टियाँ बाँधी। भारतेन्दु ने भारती की वीणा रची थी, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मीड़ कसी और नवयुग की बृहत्रयी—मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद और प्रसाद—ने उसमें स्वर-लहरी का प्रकंपन भरा। आधुनिक साहित्य के इन तीन प्रजापतियों में से प्रथम दो का सम्बन्ध जनसमूह के उत्पीड़न से अधिक रहा है जब कि तीसरा भीड़ की हलचल से दूर खँडहर की धूल में एकान्तरूप से हीरे चुनता रहा। यही कारण है कि मैथिलीशरण और प्रेमचंद को जितनी प्रसिद्धि मिली उतनी प्रसाद को नहीं। किन्तु जन-सम्पर्क के कारण जिस उपयोगितावाद (Utilitarianism) से गुप्त और प्रेमचंद की कला धूमिल रही है उससे प्रसाद की कृतियाँ अधिकांशतः अछूती भी रही हैं। अतः विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि कोण से देखने पर प्रसाद की कला ही साधना के शीर्ष पर बैठी नजर आती है।

प्रसाद और उनके नाटक

श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में 'मनुष्य में जड़ और चेतन एक प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं। उसका बाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और उसका अन्तस्तल अपार्थिव असीम का.........।' और मानवीय अनुभव के साधन हैं स्थूल इन्द्रियाँ। स्वभावतः मानव-मन स्थूल की ओर अधिक आकर्षित होता है। किन्तु जब हम पार्थिवता या स्थूलोपासना को अधिक महत्व दे देते हैं तो हमारा अपार्थिव और सूक्ष्म चेतन ठोकर खाकर प्रतिक्रिया कर बैठता है। इसी प्रतिक्रिया से संसार का साहित्य विनिर्मित है। भारतीय इति-वृत्ति के धूमिल युग में जब स्थूल कर्मकांड ने अखिल देश को अभिभूत किया था तो सूक्ष्म अन्तर की प्रतिक्रियात्मक वाणी 'तदेजति तन्नेजति' के रूप में फूट पड़ी थी। इसके बाद शाक्त और शैवों का पल्ला पकड़ने-वाले भक्तों का दृष्टिकोण एक बार फिर भौतिक हो गया तो 'तथागत' की सूक्ष्म मुक्ति की युक्ति के रूप में असीम ने स्थूल के प्रति विद्रोह किया। बुद्ध के सूक्ष्म ब्रह्म ने जब आगे चलकर विहार के अधिकारियों के हाथ में स्थूल और पार्थिव रूप धारण किया तब कबीर के 'अनहदनाद' ने क्रांति की। और द्विवेदी काल मे जब 'इतिवृत्तात्मक कविताओं का ढेर' लग रहा था, जब भाषा, फार्म और आकृति पर अधिक जोर दिया जा रहा था तो छायावाद के माध्यम का आश्रय ले अन्तर ने बाह्य के प्रति 'नीरव क्रांति' की। इस आधुनिक छायावाद के प्रवर्त्तन का श्रेय हिन्दी के रवीन्द्र 'प्रसाद' को ही मिलता है क्योंकि "आज से बहुत वर्ष पहले, जब छायावाद के देवदूत—पंत और निराला—विद्यालयों में 'कागजी कुसुम' और 'सिगरेट के धुँआ' से खेला करते थे, एक मनस्वी कलाकार (प्रसाद) अपनी रंगीन अद्भुत-प्रिय कल्पना और सौंदर्य-विभोर स्वस्थ भावुकता की डोरियों से इस युग का ताना-बाना

बुन रहा था"। प्रसाद की इन पंक्तियों में छायावाद ने अपनी अलसाई आँखे खोली हैं—

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

और 'कामायनी' का दामन थामे प्रसाद का रहस्यवाद वहाँ तक गया जिसके आगे शायद राह नहीं है।

काव्य के क्षेत्र मे सुप्त चेतन को जाग्रत करने से भी अधिक महत्व जयशंकर को इसलिए मिलना चाहिये कि उन्होंने साहित्य को एक स्वस्थ और बौद्धिक दृष्टि कोण (intellectual vision) दिया, जिसके अभाव में हमारा सारा साहित्य विकलांग होकर कुरूप हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त और बीसवीं शताब्दी का आरम्भ हिन्दी ससार के लिए एक संक्रान्ति-युग है। यह एक क्लासिकल युग है। एक ओर रीतिकाल के ध्वांसावशेष के रूप में विकृत शृंगारिकता से मन-चले लोग अपने मन की मनुहार कर रहे थे और दूसरी ओर असत् आदर्श (Pseudo-idealism) की, (जिसमें शृंगार का सर्वथा बहिष्कार किया जा रहा था), आवाज बुलन्द हो रही थी। 'वस्तुतः ये दोनों दृष्टियाँ अप्राकृतिक थीं और जीवन की दो मिथ्या प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करती थीं।' प्रसाद के निस्सग व्यक्तित्व ने जीवन की अतल गहराई में डूबकर झाँका था और उसके उपकरणों का उचित मूल्यांकन किया था। न तो वह सस्ती भावुकता पर फिसला और न झूठे आदर्शाडम्बर

की चादर ही उसने ओढ़ी। जीवन को उसने निकट से देखा और उसकी प्राण-रक्षा के लिए एक ऐसा स्वास्थ्यकर सन्देश दिया जिसमें जीवन को उदात्त करने के तत्त्व भी हैं और परिष्कृत शृंगार का रस भी।

'कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।
—कामायनी

मौलिक कहानियों का तो श्रीगणेश ही प्रसाद के 'ग्राम' से होता है। 'इन्दु' का प्रकाशन हिन्दी के कहानी-साहित्य में एक घटना है। 'प्रसाद जी की निर्यामिका प्रतिभा उनके भीतर ओज मार रही थी; उसीको मूर्त्त रूप देने के लिए उन्होंने अपने भाँजे स्व० अम्बिका प्रसाद गुप्त द्वारा 'इन्दु' निकलवाया।' 'जमाना' के पृष्ठों में १९०७ में प्रेमचद का 'संसार का सबसे बड़ा अनमोल रत्न' आ चुका था किन्तु हिन्दी की 'सरस्वती' को उनका 'पंचपरमेश्वर' १९१६ में मिला। इधर १९११ में ही प्रसाद का 'ग्राम' सज चुका था और एक ही वर्ष के उपरान्त पॅचरंगी 'छाया' भी आयी जिसकी छाँह में हिन्दी कहानी-साहित्य का एक नवीन अध्याय खुला। यदि देवकीनन्दन खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी तथा गोपालराम गहमरी ने कथा-साहित्य की नींव दी और अन्य लोगों ने उस पर इमारत खड़ी की तो प्रसाद ने उसमें वह 'आकाश दीप' जलाया जिसकी लौ में वायु के घातक कीटाणु मर गए और जिसकी ज्योति आज भी कितने आगन्तुकों का आकर्षण बनी है।

कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद और प्रसाद दोनों एक दूसरे के पूरक थे। प्रेमचंद ने हमारे वर्तमान जीवन की कठोर वास्तविकता की यथार्थ अभिव्यक्ति की और प्रसाद ने प्राचीन भारतीय जीवन के साथ हमारी आज की जिन्दगी को रख कर एक नवीन आदर्श की ओर संकेत

किया । एक में व्यक्त घटनाएँ प्रधान है, दूसरे में व्यक्त व्यापार से अधिक अव्यक्त भावना को प्राधान्य मिला है। प्रेमचंद जीवन की मोटी साइकोलौजी पर चलनेवाले थे और प्रसाद मानव-हृदय की सूक्ष्म और सुकुमार मनोवृत्तियों का विश्लेषण करने वाले। एक ने पुरुष-हृदय को पहचाना और दूसरे ने नारी हृदय के गहन अन्तस्तत्त्वों के स्पष्टीकरण मे अधिक सफलता पाई। प्रेमचंद का कथोपकथन नाटकीय है जो कहीं कहीं Melodramatic हो जाता है। प्रसाद का कथनोपकथन स्निग्ध और कवित्वपूर्ण है जिसमें अध्ययन का आनन्द आता है। एक की भाषा इतिवृत्ति के अनुरूप, प्रसादपूर्ण, सजीव, उर्दू की लोच और रवानी से भरी, मुहावरों की चुस्ती और कलाम की सफाई से युक्त है, दूसरे की भाषा एक पहुँचे हुए व्यक्ति की भाँति बालसुलभ चपलताओं से हीन, धीर व्यक्तित्व लिए, खड़ी है। वह गम्भीर इतनी है कि उसकी अतल गहराई में उतरकर उसका उचित मूल्यांकन करना एक टेढ़ी खीर है और फिर भी इतनी प्राणवती है कि उसके सहारे अमूर्त्त भावनाओं को मूर्त्तरूप मिल जाते हैं। प्रेमचद छोटे छोटे वाक्यों में जो सूक्तियाँ देते हैं वे निजी अनुभव की देन होने के कारण हृदय पर पत्थर की लकीर की भाँति अमिट प्रभाव छोड़ती हैं। प्रसाद रह-रहकर अपनी रसात्मक पक्तियों में जो कोमलतम भाव भरते हैं वे हमारे प्राणों में मधु घोल देते हैं और हममें सुरूर भर देते हैं। प्रेमचद की कहानियों मे एक डिजाइन है। वे एक निश्चित गति से आरम्भ होती हैं और एक निश्चित परिस्थिति में उनका पर्यावसान होता है, जहाँ पाठक की सारी जिज्ञासाएँ एक बारगी शांत हो जाती हैं। प्रसाद की कहानियों का अत अकस्मात होता है। वे पाठक को शान्ति देने की जगह उनमें भावोत्तेजन (Thought provocation) भरती हैं।

प्रसाद की कहानियों का क्षेत्र अपरिमित है। घटना-प्रधान कहानियाँ भी हैं और चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी। दो-चार वाक्यों में किसी पात्र का रेखा-चित्र उरेह कर रख देना कोई प्रसाद की 'भिखारिन' से सीखे। 'ममता' एक ऐतिहासिक कहानी है तो 'कला' एक प्रतीकवादी कलापूर्ण रचना है। प्रसाद ने सत्तात्मक कहानियाँ भी लिखी हैं और छायात्मक भी। इसलिए हम प्रसाद में शरद् और रविबाबू की सम्मिलित झाँकी पाते हैं। एक ओर 'मधुआ', 'घीसू', 'इन्द्रजाल' हमारे वर्तमान जीवन की कठोरभूमि मे खड़े सहानुभूति की मधुकरी माँग रहे हैं और दूसरी ओर 'ज्योतिष्मयी' काव्य-लोक की किरणे बाँट रही है जिसकी छवि कोई अध्ययन की शान्ति में देखे। हाँ 'वातावरण-प्रधान कहानियों की संख्या अधिक है। 'आकाश दीप', 'बिसाती' 'प्रतिध्वनि' 'समुद्र संतरण', 'हिमालय का पथ', 'स्वर्ग के खँडहर में' आदि कहानियाँ ऐसी ही हैं। 'आकाश दीप' में प्रेम और दिवगत पिता की स्मृति के संघर्ष का और 'बिसाती' मे प्रेम की मादकता का चित्र कवित्वपूर्ण वातावरण में खींचा गया है। गोविन्दवल्लभ पंत, प्रेमचंद, राधिकारमण सिंह, सुदर्शन, हृदयेश, इत्यादि, ने भी वातावरण-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं किन्तु प्रसाद का व्यक्तित्व अपने बाँकपन के साथ यहाँ भी अलग खड़ा है। 'कवित्वपूर्ण वातावरण में, प्राचीन इतिहास के स्वर्णिम परिपार्श्व मे, इस एक भावना से अनुप्राणित यह वातावरण-प्रधान कहानी (आकाश दीप) वास्तव मे हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। कलाकी ऐसी तराश अन्यत्र दुर्लभ है। और जहाँ वातावरण और चरित्र दोनों का समभाव से सम्मिलन हुआ है वहाँ तो कलात्मक सौंदर्य और साहित्यिक सौष्ठव दोनों साकार होकर एक दूसरे से लिपटते दीखते हैं। जिस तरह प्रसाद की कविता 'प्रेमपथिक' के साथ चलकर 'कामायनी'

की ऊँची भूमि पर पहुँच गई उसी तरह उनकी कहानी भी 'प्रतिध्वनि' की नन्ही चाल से आरम्भ कर 'इन्द्र-धनुष' तक पहुँच गई। प्रसाद कहानी-क्षेत्र मे भी एक स्कूल बन गए जहाँ कितनों की प्रतिभा ने प्रेरणा ग्रहण की और ट्रेन्ड (trained) हुई। प्रसाद के 'आकाश दीप', रायकृष्ण दास के 'सुधांशु' तथा विनोदशकर व्यास की 'तूलिका' में वस्तु का कितना साम्य है! वास्तव मे 'आपकी कहानियाँ स्थायी साहित्य की चीजे हैं। उन्हे दो सौ वर्ष के बाद पढ़ने पर भी उतना ही मजा आएगा जितना आज आता है'।

जो लोग यह कहते हैं कि प्रसाद पलायनवादी (Escapist) हैं, प्रसाद जीवन की वास्तविकता से आँख चुरा कर कल्पना-कुञ्जों मे मानसिक विहार करनेवाले हैं, प्रसाद समाज के दुःख-दैन्य को भूल-कर ऐकान्तिक आध्यात्मिक साधना करने वाले हैं वे प्रसाद के उप-न्यासों को देखे। 'ककाल' ऐकान्तिक साधना की सामाजिक प्रतिक्रिया है। 'ककाल' हमारे वर्तमान जीवन की ठठरी है। इसमे काशी और प्रयाग के सत और गिरजाघर के पादरी हैं, भोले-भाले गृहस्थ और कुटिल उचक्के हैं, छज्जे की कामिनियाँ और सेवा-समिति के स्वयं-सेवक हैं। यह हमारे समाज के साधु-लफगे, ईमानदार-उचक्के, सदाचारी-दुराचारी, सती-वेश्या—सब की हूबहू हुलिया है। और तिस पर भी यथार्थता इतनी कि 'समस्त वातावरण परिचित ही नहीं, घरेलू सा है'।

'ककाल' में समाज के खोखले आदर्शों का कच्चा चिट्ठा खुला है। समाज में उन्नत घरानों की स्त्रियाँ गूजरों के गृहों मे दिल बहलाव कर सकती हैं और सफेद चोगा वाले पादरी चचल कमसिन से प्रेम कर सकते हैं, किन्तु फिर भी झूठे दभ मे पड़ कर समाज दुर्बल व्यक्तियों को पीसता है, उन पर 'सामाजिक विधि-निषेधों का दुर्वह भार' डालता

की प्रतिभा और शक्ति समाज के असामयिक प्रतिबन्धों के ... प्रकार दबकर कुचली जाती है यह कोई अपने सम्पूर्ण प्रयत्नों और सम्पूर्ण असफलताओं की करुण याद लेकर सोये हुए विजय की हड्डियों के कंकाल से पूछे। समाज स्त्रियों की उपेक्षा करके अपने अंचल में कितना पाप बटोर लेता है यह तारा के जीवन-पृष्ठों में पढ़ा जा सकता है।

कंकाल मे समाज की मान्यताओं को चुनौती दी गई है और उनके प्रति विद्रोह किया गया है। 'घंटी' का विद्रोह इन सबल पंक्तियों में फूटता है—

'हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है; उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए सोचना विचारना चाहिए। और जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश हो, वहाँ प्राकृतिक स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूँ' !

'यमुना' के विद्रोहात्मक हृदय की अभिव्यक्ति कितनी कठोर है !

'मैंने केवल एक अपराध किया है। वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा कर लिया था और कुछ मंत्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं कर लिया था, पर किया था प्रेम। यदि उसका यही पुरस्कार है तो मैं उसे स्वीकार करती हूँ'।

'तितली' में सम्मिलित कुटुम्ब की असामयिक योजना के विरुद्ध, जिसकी प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ कर व्यक्ति की प्रतिभा स्वतंत्र निर्माण नहीं कर सकती, आवाज उठाई गई है।

प्रसाद में केवल विरोध का कंठ-स्वर ही नहीं पाते वरन् समाज के नव-निर्माण की रचनात्मक प्रेरणा भी। कंकाल में भारत-संघ की

योजना है और तितली में बाबा रामनाथ की संस्था का कार्यक्रम। यहाँ समाज को एक स्वस्थ भूमि पर खड़ा किया गया है। छोटे-बड़े सभी ग्राम-संगठन में लगे हैं। गाँवों में प्रगतिशील विद्यालय है और निःशुल्क औषधालय। नई प्रणाली से खेती की जाती है। एक ओर व्यायामशाला है तो दूसरी ओर सगीतालय भी; एक ओर कृषि-प्रदर्शनी है तो दूसरी ओर गृह-शिल्प की हाट भी। स्त्री को नये दृष्टि कोण से देखने की चेष्टा की गई है जिसका आधार है 'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' का सिद्धान्त।

'पुरुष नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, हृदय चाहती है।'

'स्त्री जिससे प्रेम करती है उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है; यदि वह भी उसका प्रेमी हो'।

प्रसाद के दोनों उपन्यास 'वस्तुवादी कला के श्रेष्ठ उदाहरण' हैं। वस्तु की यर्थाथता, नाटकीय तत्त्व के समावेश, और कवित्व के मधु-वेष्ठन के कारण दोनों उपन्यास सरस्वती के श्रृंगार की वस्तु बन गये हैं। 'स्मरण रखना चाहिए, कि एक संघटित और चुस्त कथानक के अन्तर्गत रोचक घटना-चक्र और अतिशय रोचक वर्णन-शैली मे अंकित होकर समाज के आत्याचारों और पाखंडों की यह कथा अतीव मार्मिक हो गई है। कंकाल की यह सफलता हिन्दी मे अपूर्व है। आधुनिक अॅग्रेजी साहित्य में गॉल्सवर्दी के नाटक व्यक्ति पर समाज के अत्याचारों को दिखाते हैं। विपन्नता के चित्रण में वे सामयिक साहित्य में शायद सर्वोच्च स्थान रखते हैं पर उनके पात्रों का अर्थ-कष्ट हमे उतना अधिक आकर्षित नहीं करता, जितना 'कंकाल' के पात्रों की समाज-पीड़ा, दभ और दुर्गुणों का भडाफोड़, नकली और खोखले आदर्शों की निस्सारता,

अनर्थकारी बन्धनों की जटिलता के प्रदर्शन पद-पद पर करते है। समाज का यह रूप देख कर हम आशंकित और क्षुब्ध होते हैं, 'अश्लीलता की शिकायत नहीं करते। ग्लानि, क्षोभ और विडम्बना के भाव ही हम पर अधिकार कर लेते हैं। इस महाकार दुर्लभ और विवशकारी कालिमा का प्रदर्शन तथा उसके प्रति विद्रोह का सृजन ही उपन्यास का उज्ज्वल लक्ष्य है'! इन उपन्यासों की तुलना वाल्टर स्कॉट के 'आइवन' अथवा विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेबुल्स' से की जा सकती है।

वर्त्तमान से उलझे हुए होने पर भी प्रसाद के उपन्यास युगों का अतिक्रमण करते हुए अमर रहेंगे—चिरसुन्दर और नित नवीन। इसका कारण यह है कि इन उपन्यासों की समस्याएँ वर्तमान की होती हुई भी सनातन हैं—सार्वदेशिक और सार्वयुगीन। 'व्यक्ति बनाम समाज' और 'स्त्री'-पुरुष की समस्याएँ प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल मे, उठती रही हैं और उठती रहेंगी। काल-क्रम से भारतीय समाज पर नई लकीरें खिच जाएँगी किन्तु विजय, यमुना, घटी तथा तितली, शैला और मधुवन तब भी रहेंगे।

और प्रसाद के नाटक ? उनकी तो अतिप्रशस्ति हो ही नहीं सकती। हिन्दी नाटकों का श्रीगणेश भारतेन्दु से होता है। भारतेन्दु को साहित्य में राष्ट्रीयता के आवर्तन के लिए उतना श्रेय नहीं मिल सकता जितना इन नाटकों के प्रणयन के लिए। राष्ट्रीयता तो युग की माँग थी। वह तो भुस्सी की आग की तरह धीरे-धीरे सुलग ही रही थी और समय पाकर कभी न कभी भभक ही पड़ती। किन्तु हिन्दी के साहित्यांगन में यदि भारत के इस इन्दु की धवल किरणें न छिटकतीं तो हिन्दी का रंगमंच उपेक्षा के अंधकार में जाने कब तक किस्मत को रोता रहता।

फिर भी भारतेन्दु केवल श्रीगणेश ही कर सके, कलात्मक निर्माण नहीं। भारतेन्दु-युग एक संक्रांति-काल था। इसमे शासक तो बदल गए थे किंतु रीति-नीति पुरानी थी। हिन्दी का भारतेन्दु-युग बँगला का बंकिम-युग था। इसमें भाव की मान्यताएँ तो बदल चुकी थीं किन्तु विभाव अब भी रीतिकालीन थे। युग की विभूति होने के कारण भारतेन्दु ने साहित्य के भाव पक्ष में तो प्रबल क्रांति की किन्तु रीतिकालीन रूढ़ियों को सहृदयता से अपनाया। 'अंधेर नगरी', 'भारत-दुर्दशा' 'नीलदेवी' आदि नाटक अपने समय की क्रांतिकारी रचनाएँ हैं और समसामयिक विषयों पर लिखे गए हैं परन्तु इन सब की कला संस्कृत से उधार ली गई है। इसका अर्थ यह नहीं कि वातावरण के प्रभाव से उनकी कला सर्वथा अछूती रही है। 'श्री चन्द्रावली नाटिका' पर रासलीला का रंग चढा है, 'नीलदेवी' मे संगीत-माधुरी है, 'भारत-जननी' पर ऑपेरा का प्रभाव है किन्तु सब के ऊपर धनंजय के नपे-तुले नियमों का अंकुश है। काशी के इस इन्दु के अस्त होने के उपरान्त वाराणसी के ही साहित्यिक गगन में इन्दु की प्रखरतर कला उगी—जयशंकर प्रसाद के रूप मे। प्रसाद की नाट्य-प्रतिभा ने इस क्षेत्र में एक नवीन युग का विधान किया। 'सज्जन' लेकर वे आए जिसमे संस्कृत नाटकों का अनुकरण है और उन्हीं की शैली का कण्ठ-स्वर भी। संस्कृत नाटकों की भाँति 'सज्जन' के आरम्भ में नान्दी-पाठ, नटी और सूत्र का संलाप, बीच-बीच मे श्लोक-सी पदावलियाँ हैं, प्राकृतिक दृश्यों में आचार का निरूपण है, कथोपकथन संक्षिप्त और सादा है, अन्त मे भरतवाक्य हैं। प्रायश्चित के द्वितीय संस्करण में इन विषयों की अवहेलना की गई है। यहीं प्रसाद की स्वतंत्र नाटकीय प्रतिभा की अरुण रश्मियाँ देखने को मिलती हैं। नाटककार प्रसाद के विकास

प्रसाद और उनके नाटक

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक साहित्य के अभिमान के उपकरण हैं। इतिहास की सत्यता और काव्य की कल्पना का यह मिलन अनूठा है— अभूतपूर्व और बेपनाह ! सामाजिक प्रयोगों की यह सरस कहानी सुनते ही बनती है। हाँ, प्रसाद के नाटकों का अभिनय हो सकता है यदि उनके उपयुक्त रंगमंच हो किन्तु वास्तव में वे अध्ययन की वस्तु हैं। प्रसाद ने पहली बार हिन्दी नाटकों को साहित्यिक रूप दिया।

भाव और भाषा, आचार और विचार, रीति और नीति सब में प्रसाद के नाटक अपने विशिष्ट युगों के प्रतिबिंब हैं। उनके छात्र मन, वचन और कर्म से अपने समय के प्रतिनिधि हैं। इतिहास की ऐसी सरस अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है।

प्राचीनता के उपासक होने पर भी प्रसाद वर्तमान को भूले नहीं थे। वर्तमान की सांस्कृतिक और नैतिक समस्याओं का समाधान उन्हे अतीत के आलोक में मिला था। प्रसाद के नाटकों मे भूत के भव्य आदर्श, हैं, वर्तमान की समस्याएँ हैं और भविष्य के सदेश हैं। हाँ उनके सांस्कृतिक पुनरुत्थान के संदेश एक ऊँची तह पर खडे थे जिन तक उस समय के सभी पाठक नहीं पहुँच पाये। इसीलिए प्रेमचद को उतनी प्रसिद्धि मिली जितनी नहीं मिलनी चाहिए थी और प्रसाद को उतना महत्व भी नहीं मिला जितना मिलना चाहिए था।

प्रसाद की भाषा पर चौमुख प्रहार होता रहा है और उसे क्लिष्ट, गरिष्ट, पथरीली, आदि, कहा गया है। 'किन्तु अभिव्यक्ति के लिए समुचित वाहक भी तो चाहिए। जो कुछ उन्हे कहना है, वह उससे हल्की वा अन्य. शब्दों वाली भाषा में कहा ही नहीं जा सकता। इस भाषा में अमूर्त भावनाओं के आधार पर मूर्त की अभिव्यक्ति की गई

है।' साथ ही प्रसाद जिस युग को उपस्थित करना चाहते थे उसके वातावरण को अविकल रखने में उनकी भाषा सहायक हुई है।

'प्रसाद' ने हिन्दी कविता को स्वस्थभूमि पर खड़ा किया, कहानियों को भावप्रवण बनाया, नाटकों को साहित्यिक रूप दिया और 'इन्दु' के पृष्ठों पर कितने नूतन प्रयोग किए। अंग्रेजी के विशेषण-विपर्यय, माननीकरण आदि अलकारों का तो उपयोग किया ही है, हिन्दी में 'सॉनेट' का सफल आरम्भ भी आपने ही किया। 'प्रेम-पथिक' की अतुकात कविताओं के साथ हिन्दी में भावाभिव्यक्ति की नवीन शैली आयी। प्रसाद के पहले भी भिन्नतुकान्त कविताएँ की गई थीं किन्तु वे शौकिया और कौतूहल से प्रेरित रचनाएँ थीं। प्रसाद ने उन्हें परिमार्जित और भावात्मक बनाया। 'करुणालय' के प्रकाशक के शब्दों में 'निस्सन्देह हिन्दी में गणवृत्तों में उनके लिखने के बहुत पहिले भी अमित्राक्षर कविता लिखी गई है, किन्तु मात्रिक वृत्तों में उसका प्रयोग तथा भावों और वाक्यों की—चरणों के बन्धन मे न पड़ कर—स्वतत्र गति, आरम्भ और अवसान,—प्रसाद जी की ही सृष्टि है'। हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य होने का गौरव भी प्रसाद की 'कामना' को प्राप्त है।

साहु शिवरत्न काशी के 'महादेव' थे। सुनते हैं, उनके चरणों पर स्मृद्धि और प्रसिद्धि लोटती थी और करों मे दान का अर्घ्य-जल रहता था। इन्हीं शिवरत्न के यहाँ पौत्र के रूप में उत्पन्न हुए शम्भुरत्न और जयशकर। जयशकर का जन्म माघ शुक्ल १२ स० १९४६ को हुआ। सौंदर्य और शील से विनिर्मित बालक जयशकर इस वैश्यकुल के लिए भी अभिमान था। कसरत और घोड़े की सवारी ने उसके शरीर को और भी सुडौल और भव्य बना दिया था।

आरम्भिक शिक्षा घर पर शुरू हुई। बाद में क्वींस कालेज में आए।

१२ वर्ष का जयशंकर जब आठवीं कक्षा में तसवीर भरी किताबें पढ़ रहा था तभी पिता की मृत्यु हो गई। कॉलेज छूट गया। हाँ अग्रज शम्भुरत्न की देख-रेख में घर पर ही हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी, और उर्दू की पढ़ाई चलती रही। पाँच वर्ष के बाद जयशंकर से शभुरत्न का स्नेह भी छिन गया। परिवार का दुर्वह भार वहन करते हुए। किशोर जयशंकर के साथी रह गए संस्कृत ग्रंथ। एकाकी मन उड़-उड़ कर किताब के पन्नों पर आ टिकता। इन्हीं के फलस्वरूप 'आगे चल कर प्रसाद जी ने अपने प्राचीन-सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध-कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी-साहित्य को परिपूरित किया।' समस्यापूर्ति करने वाले कवियों का जो जमघट इनके घर पर लगा रहता था उसने बचपन में ही प्रसाद के हृदय मे काव्य की अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी। वे छिप-छिपकर तुकबंदियाँ जोड़ा करते। इधर असामयिक विपत्तियों ने उनके हृदय को जैसे झकझोर दिया। वेदना छंद मे बाहर आने लगी। १५ वर्ष का जयशंकर दूकान के बही खाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविताएँ करता और अन्यमनस्क हो फेक देता। अग्रज की डांट भी सुननी पड़ती किन्तु 'छुट नहीं सकती काफिर मुँह की लगी हुई'। १९०८ ई० तक प्रसाद की ब्रजभाषा में लिखी कविताएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी आने लगीं।

प्रसाद की प्रथम कविता को प्रकाशित करने का गौरव 'भारतेन्दु' को प्राप्त है। इसके बाद नूतन भाव और नयी शैली लेकर खड़ी बोली के क्षेत्र में आए और उनकी कविताओं की धवलिमा में रँग कर 'इन्दु' चमकने लगा। १९११ में 'ग्राम' शीर्षक कहानी निकली। इसी समय के लगभग प्रसाद के कई कविता-संग्रह निकले—'कानन कुसुम', 'प्रेम पथिक' और 'महाराणा

का महत्व'। 'सज्जन' नाटक निकला। आँसू (१९२५ ई०) के बाद प्रसाद साहित्य-देवता बन गए। एक से एक अनूठी रचनाएँ निकलीं। नौ कविता-सग्रह (कानन कुसुम, प्रेम-पथिक, चित्राधार, महाराणा का महत्त्व, करुणालय, आँसू, लहर, झरना, और कामायनी), दस नाटक (सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित्त, राज्य श्री, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, चन्द्र गुप्त, स्कदगुप्त, एक घूँट और ध्रुवस्वामिनी), दो उपन्यास (कंकाल और तितली) और चार कहानी-सग्रह (छाया, आकाशदीप, इन्द्रजाल और आँधी) इनके जीवन-काल में ही प्रकाशित हो गए थे। प्रसाद जी की मृत्यु के उपरान्त नन्ददुलारे बाजपेयी ने उनके निबन्धों का एक सग्रह 'कला और अन्य निबंध' के नाम से प्रकाशित कराया। 'कामायनी' की समाप्ति के बाद प्रसाद जी 'इरावती' उपन्यास लिखना चाहते थे। उनकी मृत्यु के कारण 'इरावती' के छवि-दर्शन न हो सके।*

प्रसाद प्रकाशन से दूर भागते। शायद ही किसी ने उन्हे साहित्यिक जलसों और कवि सम्मेलनों मे देखा होगा। पत्र-पत्रिकाओं से परिचय की माँग आती और वे मुसकुरा कर टाल देते। तब 'इरावती' को पूरा करने के लिए अलका का दूत आया। यह माँग टल न सकी। लखनऊ की प्रदर्शनी से लौट कर २२ जनवरी १९३३ को ज्वर-ग्रस्त हो गए। राज्य यक्ष्मा हो गया। डाक्टरों ने बनारस छोड़ने की राय दी किन्तु शकर ने काशी न छोड़ने की प्रतिज्ञा कर ली। नवम्बर में हालत और खराब हो गई और ११ नवम्बर १९३७ ई० को उनका देहावसान हो गया।

आज भी गोबर्द्धन सराय वाला उनका घर और नारियल बाजार

* वह अब असमाप्त अवस्था में ही प्रकाशित हो गया है।

थाली उनकी दूकान, जहाँ साहित्यिकों का मेला लगा रहता, कितनो के मन पर बैठी होगी; और सुडौल शरीर, खद्दर का लम्बा कुर्ता और ओठों में स्वागत भरी मुसकान लिए जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व की स्निग्ध स्मृति भुलाये नहीं भूलती।

वस्तु-विन्यास

राष्ट्रीय चेतना जो कनवाहा, तरायन, हल्दीघाटी आदि की लड़ाइयों में भभक-भभक कर रह गई थी भारतेन्दु काल से ही उद्बुद्ध होने लगी थी। किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति के कारण विद्रोही हृदय से अगार नहीं बरसे, क्षुब्ध लोचनों से तप्त आँसू ही फूट सके। हृदय की क्रांति ने तो 'नीलदेवी' का रूप धारण किया किन्तु प्रकट एवं सामूहिक रूप से वह 'भारत दुर्दशा' की तस्वीर खींच कर अखिल देश को अपनी गिरी हुई दशा पर आँसू बहाने को ही आमन्त्रित कर सकी। इधर बम, तोप, गैस आदि की विभीषिका ने राजपूती तलवार की बाह्य-चमक को भी निष्प्रभ कर दिया था। तेग़ की तेजी पर नाज़ करना दुश्वार हो गया। किन्तु एक बात थी। भारतीय वीरता में जो शक्ति और शील का समन्वय था, तरकस के तीर में जो दिल की बुलन्दी थी, तलवार की झकार मे जो सस्कृति की झनकार थी उसके समक्ष नृशस तोपों का तुमुल नाद और बर्बर बमों की गुर्राहट भी श्रीहीन लगती थी। ऐसे ही अवसर पर प्रसाद का प्रकटीकरण हुआ। अतः प्रसाद ने दुनिया की आँखों मे उङ्गली डालकर भारतीय संस्कृति की पुनीत झाँकी दिखाई और प्रसाद की राष्ट्रीयता ने वह रूप धारण किया जो विश्व-भावना का विरोधी नहीं है। संस्कृति की यही ललकार हम प्रसाद के नाटकों की जड़ मे देखते हैं। सांस्कृतिक नींव पर ही कथानक की इमारत खड़ी होती है, और नाट-

कीय वस्तु के *सांस्कृतिक आधार* का यही* सामाजिक कारण है। आत्मगौरव, आत्म-निषेध (modesty) और विश्व-प्रेम भारतीय संस्कृति के मूल तत्व है। प्रसाद के सभी नाटकों का निर्माण इसी त्रिवेणी के तीर पर हुआ है। वरुण (करुणालय), प्रेमानंद (विशाख), गौतम (अजात-शत्रु), दाण्ड्यायन (चन्द्रगुप्त), मिहिर स्वामी (ध्रुव स्वामिनी) आदि आचार्यों के सृजन के मूल में इन्हीं तत्वों का प्रतिपादन है और चद्रलेखा, कल्याणी, देवसेना, मालविका, मल्लिका, कोमा की निमिति की जड़ में इन्हीं तत्वों का प्रतिफलन है।

स्वभावतः सस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़कर वस्तु की दीवारें खड़ी करने के लिए उन्हे प्राचीनता की प्रशस्तभूमि मे पदार्पण करना पड़ा। कथानक के सांस्कृतिक आधार एवं *प्राचीन पट-भूमि* के कुछ अन्य कारण भी दिए जा सकते हैं।

(१) प्रथमतः इस पुरातन आवर्तन के मूल में पश्चिमीय सभ्यता की भौतिकता के विरुद्ध भारतीय सस्कृति की श्रेष्ठता की प्रतिक्रिया थी। अतः संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए नाटककार को आज

---

* "The past is not only felt as a period apart, it stands in direct conflict with the present, as a reactionary force, Symbolising the spirit of protest and revenge, when the age is one of wounded sensibility with all the vitality of life on the ebb, the soul must turn towards the past, in order to find the contentment so necessary to the cravings of its emotional nature. And of all the varied periods which such a past has to offer that which affords the greatest satisfaction will be first to be explored."

— *Legouis and Cazamian's* History of English literature.

की पश्चिम-आक्रांत-संस्कृति और उससे पूर्व की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पहले की 'सामन्तीय संस्कृति' का अतिक्रमण कर आर्य संस्कृति के उस ज्योतिर्मय युग में जाना पड़ा जहाँ वह अपने अभिप्सित गौरव की 'तीलियों' को चमका सकता था।

(२) द्वितीयतः छायावादवाली पलायन मनोवृति (Escapist mentality) की आधारभूत भावना भी इस प्राचीन-प्रियता के लिए कुछ कम उत्तरदायिनी न थी। छायावाद में कठोर, दुर्धर्ष वर्त्तमान के प्रति केवल असंतोष अभिव्यक्त किया गया था। 'इस असंतोष के मूल में व्यक्ति और देश, अंतस् और बाह्य, असीम और ससीम का असामञ्जस्य ही था। वर्तमान से असंतुष्ट व्यक्ति अपनी प्राणशक्ति के अनुसार या तो वर्त्तमान की विषमताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर भविष्य-निर्माण में प्रयत्नवान होगा अथवा वर्त्तमान से हार मानकर उसको त्यागने या भूलने का प्रयत्न करेगा।' विपरीत परिस्थितियों के कारण हमारे दीन कवियों ने द्वितीय मार्ग का अनुसरण किया। प्रसाद ने ही प्रथम-प्रथम द्विवेदी कालीन असत् (Pseudo-idealism) आदर्शवाद और पार्थिव उपासना के विरुद्ध प्रतिक्रिया की और प्रसाद की इन पंक्तियों में छायावाद ने अपने अर्द्धोन्मीलित नेत्र खोले :—

> ले चल मुझे भुलावा देकर
> मेरे नाविक धीरे-धीरे।
> जिस निर्जन में सागर-लहरी,
> अम्बर के कानों में गहरी,
> निश्छल प्रेम कथा कहती हो
> तज कोलाहल की अवनी रे!

कवि प्रसाद की इस स्वर-लहरी का प्रभाव नाटककार प्रसाद पर भी अवश्य पड़ा होगा। वर्तमान को भूलने के लिए या तो कल्पना लोक की परियों के हार की लड़ियाँ गूँथनी होंगी या भव्य भूत की कड़ियाँ जोड़नी होंगी। नाटककार प्रसाद की प्रवृत्ति भूत के अनुसंधान में ही लीन हुई है। 'इस पलायन-प्रवृत्ति के द्वारा हम इन सभी की मूल-चेतना अनुराग मूलक आत्म-निषेध का विश्लेषण भी सरलता से कर सकते हैं क्योंकि जीवन के प्रति असंतोष ही, चाहे वह किसी कारण क्यों न हो, विराग और त्याग का स्रष्टा है। इसलिए कुछ तो पलायन की भावना को ही उदात्त रूप देने के लिए, अनजाने में, और कुछ विरोधी संस्कृतियों के संघर्ष से सचेत होकर हमारे नाटककार ने आग्रह पूर्वक अपनी संस्कृति का आँचल पकड़ा। इसी असंतोष-भावना के कारण नाटककार के सांस्कृतिक पुनरोत्थान में भी एक अव्यक्त वेदना की टीस बनी ही रही'।

तृतीयतः प्रसाद का निजी दृष्टि-कोण भी रोमान्टिक था। जयशंकर ने जीवन की विभीषिकाओं के हलाहल का पान किया था जिसके कारण उनका कंठ तो नीला पड़ ही गया था, प्राण भी आलोड़ित हो उठे थे; किन्तु यह मृत्युपर्यन्त आनन्द की उपासना में ही अखण्डरूप से चिरलीन रहे। यही उसका 'बनारसी ठाठ' था। मागंधी की मादक कल्पना, सुवासिनी के सृजन, वाजिरा के मिलन, आदि में हम इस रोमांस (प्रेमाख्यानी रंग) का रोमांच देखते हैं। भौतिक वास्तविकता को महत्व न देकर अन्यत्र आनन्द का अनुसंधान करने वाले व्यक्ति की दृष्टि का रोमान्टिक हो जाना भी अनिवार्य है। साथ ही, १९ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजी का सारा साहित्य रोमान्टिक था जिसका प्रभाव कुछ तो सीधे अनुवादों द्वारा और कुछ बँगाला के माध्यम द्वारा

(द्विजेन्द्रलाल के नाटकों द्वारा) छन-छनकर हिन्दी पर पड़ रहा था।* उसी 'प्रभाव-काल' में प्रसाद के नाटकों का आविर्भाव हुआ। अतः आन्तरिक संस्कार और बाह्य प्रभाव से प्रेरित होकर प्रसाद की रोमान्टिक प्रतिभा ने प्राचीन खँड़हरों में झाँका होगा, क्योंकि रोमांस पीछे की ओर ही देखता है †। कोलाहल की अवनी तजकर भुलावे का आह्वान करने के लिए विरामस्थल की खोज करते समय यह रगीन अतीत सचमुच उन्हें बड़े वेग से आकर्षित करता होगा।

काल की दृष्टि से हम प्रसाद के नाटकों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं:—

Contact with the west created new forces in all spheres of life. It gave birth to the spirit of renaissance in literature, to a new language and to a new literary technique and tradition, based on romanticism, which dominated English literature in the first half of the nine-teenth century.

In the realm of drama these University men and others were fascinated by the study of shakespeare who exercised a great influence on the technique and content of the Indian drama ....stirred by the translation of English drama and the Sanskrit dramas full of romantic spirit.

Modern Hindi Literature,
I. N. Madan.

† The remoteness, which is indispensable element of romantic art can be the remoteness of time, place and culture. Romanticism is also a 'cult of the past'

Modern Hindi Literature,
INDRNATH MADAN, M.A., Ph, D.

१—प्रागैतिहासिक कथानक की श्रेणी

इस कोटि में वे नाटक आते हैं जिनमें वस्तु-संकलन उस काल के पूर्व से हुआ है, जिसे इतिहासज्ञ ऐतिहासिक काल कहते हैं। 'सज्जन' (महाभारत-काल), और 'करुणालय' (वैदिक काल) इस वर्ग के हैं।

२—मध्यरेखाधिष्ठित कथानक की श्रेणी

इस वर्ग में केवल 'जनमेजय का नागयज्ञ' की ही गणना होनी चाहिए, क्योंकि उसका कथानक पौराणिक काल के कटघरे से निकलकर ऐतिहासिक काल के राज डगर पर आ गया है।

३—ऐतिहासिक कथानक की श्रेणी।

प्रसाद की प्रौढ़ और सर्वाधिक रचनाएँ इसी कोटि की अधिकारिणी हैं। यथा ;

राज्यश्री' मे स्थाण्वीश्वर (नाथेश्वर) के सुप्रसिद्ध और प्राचीन भारत के अंतिम हिन्दू-सम्राट् हर्षवर्द्धन और उनकी अभिनन्दनीय भगिनी राज्यश्री के बौद्धधर्म से प्रभावित होने की कथा है। 'विशाख' मे काश्मीर के राजा नरदेव और एक नागरिक विशाख के साथ चन्द्र-लेखा के प्रेम-सम्बन्ध की कथा है। 'अजातशत्रु' में मगध के सम्राट् बिंबसार के सिंहासनावरोहन और उनके पुत्र अजातशत्रु के विद्रोहों आदि का वर्णन है। 'स्कंधगुप्त' में उज्जैन के प्रसिद्ध अंतिम नृप स्कंध-गुप्त विक्रमादित्य की राज्य-प्राप्ति के सम्बन्ध में होने वाले विप्लवों की कथा है। 'चन्द्रगुप्त' में पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध राजा चन्द्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर के आक्रमण की कथा है। 'ध्रुवस्वामिनी' गुप्तकाल की रचना है। उसमें चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न की कहानी है।

सांसारिक वैभव की निस्सारता और गौरवमय निस्पृह जीवन की श्रेष्ठता अभिव्यक्त करने वाली प्रसाद की प्रतिभा ने नाटकीय-वस्तु

का बिरवा खड़ा करने के लिए ऐतिहासिक सरिता के कछार पर भी संधिकाल का संगम ही पसंद किया। 'नारकीय द्वंद्व, की सामग्री संधि-युगों में ही विशेष उपलब्ध होती है और ऐसा नाटककार जो घटना और नियति को जीवन में कम महत्व नहीं देता हो उसे तो अपनी सामग्री बटोरने के लिए हलचल पूर्ण संधि ही विशेष उपयुक्त प्रतीत हो सकती है। अतः प्रसाद के नाटकों के आख्यानों में संधियों का अनुसंधान है। 'जनमेजय' पाण्डवों के विगत-वैभव और नागों के संघर्ष की संधि से चुना गया है। 'राज्यश्री' गुप्तों के पतन और वर्द्धनों के उदय की संधि में से है, 'स्कंधगुप्त' में डगमगाते गुप्त साम्राज्य के अंतिम दिनों की जर्जरित उदीप्त झाँकी है। 'चन्द्रगुप्त' में नन्द और मौर्य की संधि का विलास है'। 'अजातशत्रु' बौद्धकाल के आरम्भ की रचना है।

अतः प्रसाद के नाटकीय कथानकों का महल संस्कृति की नींव पर, प्राचीनता की भूमि में, संधि-काल के संगम पर खड़ा है।

प्रसाद ने देखा कि न केवल हमारा वर्त्तमान वरन् हमारा गौरवपूर्ण अतीत भी विदेशियों के सम्पर्क से धूमिल पड़ गया है। अतः प्रसाद ने कठिन तपस्या करके ऐतिहासिक तथ्यों का जीर्णोद्धार किया। 'इतिहास की दुरूहता को प्रसाद की प्रतिभा गरल के समान पी गई है और सारतत्व और अमृत साहित्य, सच्ची कला, सुन्दर कृतियों और नाटकों को हमें दिया है। जितना हम प्रसाद को पढ़ते हैं उतना ही उनका इतिहास के आधार पर अवलंबित काव्यत्व, कला, सुन्दरता, प्रतिभा हमें अभिभूत करती जाती है। इतिहास का इतना उत्तम उपयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिलता'। शताब्दियों से निर्जीव पड़ा हुआ प्राचीन भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक गौरव प्रसाद जी के नाटकों में सजीव होकर मुखर हो उठा है। 'प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे,

दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया, अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है। प्रसाद के नाटक मधु से वेष्टित हैं—प्रसाद मूल रूप में कवि हैं, अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रंगीन स्पंदन है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं—अंधेरी रात मे माँगधी और शैलेन्द्र का मिलना, चाणक्य का सर्वस्व त्याग, स्कंदगुप्त और देव-सेना की बिदा, मालविका और कोमा का बलिदान सभी कुछ एक मूक कविता है'।

वस्तु-सकलन से गुरुतर कार्य है वस्तु-संगठन। इस दृष्टि से उपन्यास से नाटक अधिक कठिन और टेकनिकल साहित्य है, क्योंकि नाटक स्रष्टा को न तो वाणी की स्वतन्त्रता है और न पीछे मुड़कर देखने की। और ऐतिहासिक नाटकों में तो उपरोक्त टेकनिकैलिटी परतंत्रता की चोटी पर होती है। यहाँ नाटककारों की वाणी ही मूक नहीं रहती, उनके हाथ-पाँव भी बँध जाते हैं। अतः ऐसे नाटकों के प्रणयन करने वालों में इतिहास की अभिज्ञता के साथ ही नाट्य-कला की निपुणता का भी होना अनिवार्य है। प्रसाद एक ऐसे ही नाटककार हैं। इनकी नाटकीय प्रतिभा के साफल्य के मूल में उपरोक्त गुण-द्वय की गरिमा ही अन्तर्निहित है।

खास कर प्रसाद के उन नाटकों में, जिनके कथानक की परिधि लघु और वस्तु की विस्तीर्णता कम है, संगठन की चुस्ती और कला

के चिरंतन सौंदर्य की नयनाभिराम झाँकी मिलती है। 'विशाख' 'राज्यश्री' 'अजातशत्रु' और 'ध्रुवस्वामिनी' में एक कथा दूसरी कथा से फूटती हुई अजस्र रूप से climax की ओर प्रवाहित होती रहती है। 'अजातशत्रु' का आख्यान गृह-विग्रह और दुर्दमनीय कुमार कुणीक के सिंहासनारोहण से आरम्भ होता है जिसके फल-स्वरूप एक ओर जीर्ण बिंबसार वाणप्रस्थ आश्रम की शरण लेते हैं और दूसरी ओर कोशल-कुमार विरुद्धक को निर्वासन मिलता है। मगध के कलह की करालता के कारण वासवी को काशी का राजस्व लेने के लिए कोशल-नरेश प्रसेनजित् को लिखना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वासवी के भाई प्रसेनजित् और जामाता कौशाम्बी-नृप उदयन का सम्मिलित आक्रमण मगध पर होता है और अजातशत्रु बन्दी बनाया जाता है। इधर कोशल के विग्रह के कारण साहसिक शैलेन्द्र के द्वारा बन्धुल की हत्या होती है, जिसके अभाव में मलिनका का संयमित व्यक्तित्व अति प्रखर और प्रभावपूर्ण हो जाता है जो आगे चलकर कथा के बिखरे हुए सूत्रों को एकत्रित करने मे अपूर्व शक्ति की अभिव्यक्ति करता है। कथा की एकता की दृष्टि से 'राज्यश्री' और 'ध्रुव-स्वामिनी' का स्थान 'अजातशत्रु' से ऊँचा है। ध्रुवस्वामिनी तो 'प्रसाद' की 'सब रचनाओं के दोषो से रहित सब गुणों की एक छोटी-सी प्याली है'। इन रचनाओं में कथा की एकता (Unity of plot) है, घटनाओं की सार्थकता (Unity of scenes) है, कार्यों की अनुकूलता (Unity of action) है और है आधिकारिक वस्तु की प्रधानता।

प्रसाद ने बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य को ध्यान मे न रक्खा हो किन्तु उनके नाटकीय कथानकों के आरम्भ, विकास, चरम सीमा और अवसान साफ प्रतिलक्षित होते हैं। अन्तर्द्वन्द और बाह्यद्वंद्

का संतुलित समिश्रण ही प्रसाद के नाटकों की जान है। और इस संघर्ष के प्रकाशन की विधि ही इन नाटकों का सौंदर्य है। प्रथम अक के प्रथम दृश्य में ही हमें इस संघर्ष का पूर्वाभास मिल जाता है। नाटक का पर्दा उठते ही प्रमुख पात्र आंतरिक वृत्तियों से लड़ते हुये एक हलचलपूर्ण परिस्थिति में रंगमंच पर अवतरित होते हैं। तदोपरान्त इससे भी विकट बाह्य संघर्ष का—परिस्थितिओं और सस्कृतियों के सघर्ष का—विराट दृश्य आता है। देव और दानव अपने-अपने कार्यों में प्रयत्नवान होते हैं और तब आती है इन सघर्षों की तीव्रतम अवस्था (Climax)। अतिम अंक में असत् प्रवृत्तियों पर सत् प्रवृत्तियों की विजय होती है और वहीं होता है नाटक का अतिम पटाक्षेप भी। सक्षेप में यही प्रसाद की टेकनीक है। प्रसाद के नाटकों का आरम्भ इतना मोहक और कलात्मक होता है कि प्रथम दृश्य के पढ़ने या देखने से ही नाटक को आद्योपान्त पढ़ या देख जाने की उत्सुकता सी (Curiosity) हो जाती है। और कथा का पर्यवसान एक-ऐसे करुण-मधुर वातावरण मे होता है कि पाठक या दर्शक अधरों पर स्मित और नयनों में करुणा लिए प्रसाद से विदाई लेता है और बहुत दिनों तक आन्दोलित रहता है। विशाख का मन बाल-स्मृतियों की मधुरिमा और कर्ममय यौवन की कठोरता के बीच झूल ही रहा है कि चन्द्रलेखा के दर्शन ने उसे कर्म की कठोरभूमि में ला बाह्य संघर्ष की ओर उन्मुख कर दिया। नरदेव का विरोध क्लाइमैक्स का सृजन करता है और उसकी हार परिणति की भूमि। एक ओर अजातशत्रु, छलना, देवदत्त तथा दूसरी ओर बिंबसार, वासवी और गौतम हैं। एक ओर गौतम के पूर्व का भारत है और दूसरी ओर गौतम के पश्चात का भारत। एक ओर हिंसा और क्रूरता है, छल और पाखंड है दूसरी ओर अहिंसा, करुणा, सत्य और कर्त्तव्य हैं।

इन्हीं असत् और सत् प्रवृतियों का द्वंद्व, कोशल, कौशाम्बी और मगध के राज-परिवारों के विग्रह में ही हमें देखने को मिलता है। 'अजातशत्रु' में मगध के गृह-विग्रह का पूर्वाभास प्रथम दृश्य मे ही दृष्टिगत होता है। काशी के राजस्व का प्रश्न बाह्यद्वंद्व की पटभूमि बनाता है। प्रसेनजित् और अजात का युद्ध क्लाइमैक्स है। अजातशत्रु की हार और बिंबसार के क्षमा-दान में नाटक का अवसान होता है।

'स्कदगुप्त' की वस्तु पाँच अंकों में विभाजित है। इन पाँच अंकों में कार्य की पाँच अवस्थाएँ (आरभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम) स्पष्टरूप से लक्षित हैं। अन्य नाटकों की भाँति इसका प्रथम अंक भी परिचयात्मक है। दार्शनिक उदासीनता लिए स्कदगुप्त आता है। उधर गृह-कलह और हूणों के आक्रमण राष्ट्र के अस्तित्व पर प्रश्न-वाचक चिन्ह लगाए खड़े हैं। सम्राट् की मृत्यु और दंडनायक की आत्महत्या के कारण युवराज स्कद उद्विग्न हो उठता है। मालव पर होनेवाला क्रूर आक्रमण और उसकी गौरव-रक्षा का विकट प्रश्न स्कध-गुप्त को कर्त्तव्योन्मुख बना कार्य की ओर प्रेरित करते है। इस आरम्भ के उपरान्त द्वितीय अक मे स्कंदगुप्त का विरागीमन अधिक प्रयत्नशील होता है। देवकी की रक्षा, अवती का राज्याधिकार और षड्यन्त्रकारियों का बदी बनना इस प्रयत्न की सफलता के सूचक हैं। तृतीय अक मे वह स्थल जहाँ भटार्क की प्रवचना के कारण कुभा में स्कध की सेना बह जाती है नाटक की चरमसीमा (clim ax) है। किन्तु वहीं स्कध-गुप्त के चरित्र में महान् परिवर्तन भी होता है। उसका विरागी मन खिन्नता छोड़ विजय-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होता है। उसके विश्वास और आशा में हमे प्राप्त्याशा के दर्शन होते हैं। चौथे अक मे शत्रु-पक्ष दुर्बल पड़ जाता है। विजया और अनतदेवी का पारस्परिक विरोध,

भटार्क के मन में अपने कुकर्मों के कारण ग्लानि की उत्पत्ति और सघर्ष से दूर रहने का निश्चय स्कधगुप्त की विजय को निश्चित कर देते हैं। पंचम अंक मे विजया के धन और पर्णदत्त तथा भटार्क के सहयोग से स्कंधगुप्त फल की प्राप्ति (गृह-कलह का शमन और राष्ट्र की गौरव-गरिमा की रक्षा) करता है। विजय के उल्लास और देवसेना की वेदनापूर्ण विदाई ने इस नाटक को भी करुण-मधुर इति दी है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के आरम्भ में ही प्रतिपाद्य विषय की झाँकी मिल जाती है। राष्ट्र के तंतु विखर गए हैं। सभी अपने स्वार्थ की सिद्धि मे निरत हैं। अवसर पा विदेशियों ने आक्रमण कर दिया है। किन्तु अभी भी इस वीरभूमि में ऐसे वर-पुत्र हैं जो मातृभूमि को पादाक्रांत होते देखने के पूर्व उसकी वेदी पर अपनी बलि चढ़ा देने को कटिबद्ध हैं। प्रथम दृश्य में ही हमें इन बातों की जानकारी हो जाती है। स्वार्थ-लिप्सा से उत्प्रेरित आम्भीक और राष्ट्र-रक्षा की प्रेरणा से अनुप्राणित सिंहरण के बीच होनेवाले द्वंद्व से नाटक का आरम्भ होता है और वही सहसा प्रवेश कर चन्द्रगुप्त आम्भीक की रक्षा करता है। नंद और पर्वतेश्वर के द्वारा होनेवाला चाणक्य का अपमान और निर्वासन चन्द्रगुप्त और चाणक्य को एक विशिष्ट लक्ष्य (नंद के विनाश और राष्ट्र की रक्षा) की उपलब्धि के लिए प्रयत्यशील बना देता है। मगध की सफल क्रांति में राष्ट्र के उद्धार की आशा की झलक मिलती है। पर्वतेश्वर के निधन, राक्षस की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता और आम्भीक के विचार-परिवर्तन के कारण लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। अंत में राक्षस के मंत्रित्व-ग्रहण और सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा ग्रीस की गौरव लक्ष्मी, कार्नेलिया के पाणि-ग्रहण के भव्य दृश्य के साथ यवनिका पात होता है। 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रारम्भ भी बड़ा मोहक है। प्रकृति के नयनाभिराम दृश्य के बीच आँखों में

अवसाद और हृदय में द्वंद्व भरे आती है, ध्रुवस्वामिनी। शकराज की माँग और रामगुप्त की स्वीकृति ने ध्रुवस्वामिनी को अपनी रक्षा स्वयं करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ बना दिया। अब वह प्रयत्नशील है। अन्य राह न देखकर आत्महत्या करना चाहती है। आत्महत्या के समय चन्द्रगुप्त का सहसा प्रवेश होता है जिसके कारण सफलता की आशा हो आती है। शकशिविर में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की उपस्थिति और आचरण ही इस नाटक की चरमावस्था है। शकराज की मृत्यु के कारण फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है और धर्माध्यक्ष के समाधान के उपरान्त ध्येय की प्राप्ति (राक्षस-विवाह से मोक्ष और महादेवी के पद की प्राप्ति) होती है।

जिस तरह वृक्ष की हरी-हरी पत्तियों के बीच दो-चार रूखे-सूखे पत्र भी रहते हैं उसी तरह प्रसाद के गरिमा विशिष्ट नाटकों मे भी कुछेक दोष आ ही गए हैं। भूलों की तो काया ही है।

प्रसाद का प्रथम दोष है उनकी अनुपांगिक (improportion ate) इतिहास-प्रियता। ऐतिहासिक चित्र आंकते समय वे तत्कालीन वातावरण का एक सम्पूर्ण तसवीर उतार देना चाहते हैं। इसके लिए वे कुछ घटनाओं की योजना करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। इन घटनाओं को कथा के मुख्य विषय से जोड़ना कठिन हो जाता है। वे अविकसित और विशृंखल रहती हैं और प्राय. नाटक की कलात्मकता के लिए घातक सिद्ध होती हैं।

'विशाख' मे बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच पशु-बलि के लिए जो झगड़ा चलता है उसका भी मूलवस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक ऐतिहासिक तथ्य का (कि उस समय बौद्ध निर्बल हो गए थे और बौद्धों तथा ब्राह्मणों के बीच खींचा-तानी हो रही थी) प्रतिपादन करना ही लेखक का अभीष्ट है। 'अजातशत्रु' ने भी तीन खेमे गाड़े गए हैं—एक

मगध में, दूसरा कोशल में और तीसरा कोशाम्बी में। मगध और कोशल में तो कार्य-कारण सम्बन्ध है किन्तु कोशाम्बी स्वतंत्र और अलग अस्तित्व रखती-सी जान पड़ती है। मल्लों के साथ 'पावा के अमृतसर' पर होने वाले युद्ध के उल्लासपूर्ण वर्णन में एक ऐतिहासिक घटना के उद्घाटन का मोह ही दीखता है अन्यथा वस्तु से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। मागधी के जीवन की घटनाओं का क्रमिक उल्लेख भी बुद्ध की शिष्या आम्रपाली को जीवित कर इतिहास का मंडन करने के हेतु ही जान पड़ता है। वास्तव में 'स्कंधगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े नाटकों में घटना के बाहुल्य में फँस कर यूनिटी अस्तव्यस्त हो गई है। इन दो नाटकों मे ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक हैं। 'स्कंधगुप्त' में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुदगल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगो का क्या प्रयोजन' ?

'स्कंधगुप्त को आप घटनाओं की कालकोठरी कह सकते हैं, जिसके भीतर लेखक ने निर्दयतापूर्वक इतनी घटनाएँ लेकर ठूँस दी हैं कि स्थानाभाव के कारण उनका दम छुट रहा है। कई तो चेतनाहीन होकर निर्जीव हो गई हैं और कुछ कथानक की कोठरी के भीतर स्थान न पाकर बाहर पड़ी हुई अपना सिर धुन रही हैं। उदाहरण के लिए आप १२३ पेज के दृश्य को किसी तरह भी कथानक के भीतर नहीं ठूँस सकते'। 'स्कधगुप्त' में चतुष्पथ पर होने वाला ब्राह्मण और श्रमण का विवाद भी वस्तु से सम्बन्ध नहीं रखता और तत्कालीन धार्मिक स्थिति भी अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयुक्त जान पड़ता है। 'चन्द्रगुप्त' के कथानक का काल सबसे लम्बा है। इसकी उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के सम्बन्ध मे विवाद होते रहे हैं। श्रीयुत व्रजरत्नदास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य' में लिखा है कि 'चन्द्रगुप्त' का वस्तुकाल २५ वर्ष

का है जो नाट्यशास्त्र के अनुसार वर्ज्य है। इस लम्बेकाल से किस प्रकार नाटक को हानि पहुँचती हैं, वह इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आरम्भ में किशोर अथवा युवा थे, वे अन्त होते-होते प्रौढ़ या वृद्ध हो चले हैं पर नाटककार उधर न ध्यान रख कर उस अवस्था में उनको वही किशोर या युवा समझता हुआ उनका विवाह आदि कराता है।' इस कथन की आलोचना करते हुए डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा अपने ग्रंथ 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' में लिखते हैं कि 'इस नाटक का कथानक अपने भीतर पचीस वर्षों के इतिहास को लिए है। सिकन्दर के आक्रमण के कुछ पूर्व से लेकर सिल्यूकस की भारतीय संधि तक का काल इसमें आया है। इस पर नाट्यशास्त्र की दुहाई देते हुए अनेक विचारकों ने नाक-भौंह सिकोड़ी है और यह भी कहा है कि आरम्भ मे जिन पात्रों को युवा देखा उन्हे अन्त में वृद्ध नहीं देखते यह अवास्तविकत-सा ज्ञात होता है। इस पर मुझे केवल इतना ही कहना है कि नाटककार के रचना-कौशल की शक्ति से अतीत को भी प्रत्यक्षाय-मान देखकर सामाजिक यदि इतना भी साधारणीयकरण की परवशता मे नहीं आ सकता तब तो सारा रंगमंच और उस पर होनेवाले समस्त अभिनय भले ही नाटक सकलनत्रय के सिद्धान्तों के अनुसार ही क्यों न लिखा गया हो—उसे एक बालक्रीड़ा ही मालूम पड़ेगे क्योंकि उसके लिए नकल और अभिनय हो रहा है इस बात को भूल जाना उतना ही दुष्कर है जितना इतिहास की घटनाओं की काल तालिका को। नाटक में पदर्शित एक धारावाही घटनावली की योजना सुसंगत रूप में जहाँ तक चली है उसे तीन-चार घण्टों में प्रत्यक्ष देख लेने पर ऐतिहासिक दूरी का ध्यान नही रहता।' यह सही है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक के कथा-नक का काल लम्बा है और यह भी सही है कि नाटककार ने युक्ति से

अन्तिम दृश्यों का सृजन इस प्रकार किया है कि दर्शक का ध्यान शायद ही २५ वर्ष के अन्तराल पर टिकता है। चतुर्थ अंक में पाँचवे दृश्य में मालविका की आत्म हत्या और चाणक्य की कठोर नीति के कारण दर्शक क्षण भर के लिए चौंक पड़ते हैं और चाणक्य पर झुझला उठते हैं। किन्तु क्षण भर के बाद यह जानकर कि चाणक्य के प्रयत्न के कारण चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया से विवाह होनेवाला है उनकी झुंझलाहट तिरोहित हो जाती है और शोक के स्थान पर प्रफुल्लता का सचार होने लगता है। दर्शक इन दृश्यों में इतना लीन होता है कि किसी को इस बात का ध्यान नहीं रहता कि पचीस वर्ष की अवधि किस प्रकार बीत गई। फिर भी इतना तो मानना हीं पड़ेगा कि यदि समय की यह लम्बाई छोटी होती और चार अङ्कों की जगह तीन अङ्क होते तो 'वस्तु में अधिक चुस्ती आती और नाटक मे अधिक अभिनयशीलता।

दूसरा दोष यह है कि प्रसाद के नाटकों में एक ऐसा अलौकिक व्यक्तित्व, कमान्डिग-परसनैलिटी का व्यक्ति होता है जो कथानक के प्रवाह को जिधर और जब चाहता है मोड़ देता है। इससे कथा के स्वाभाविक विकास को धक्का पहुँचता है। 'विशाख' का प्रेमानद 'चद्रगुप्त' का चाणक्य और 'अजातशत्रु' का गौतम इसी प्रकार के पात्र हैं।

तीसरा दोष है 'सहसा प्रवेश' का बाहुल्य। जहाँ नाटककार के लिए घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो जाता है, '‹हॉ कोई भूमि फाड़कर उपस्थित हो जाता है।' ऐसे स्थलों के कारण वस्तु मे कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़े लगे हुए दिखाई पड़ते हैं। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कघ-गुप्त', 'अजातशत्रु', और विशाख में यह दोष अधिक कटु जान पड़ता है। (सिंहरण और आभीक के द्वंद्व में, सिंह कूदने के समय कल्याणी के उपवन में, चाणक्य के बन्दीगृह में, सिकंदर के सम्भाषण के समय

दाण्ड्यायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त का 'प्रवेश' खटकता है) प्रसाद के नाटकों में जो 'सहसा प्रवेश' मिलते हैं उनके मूल मे पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के रंग मंच हैं जिनकी बनावट निम्न कोटि की होती थी जिनके परदे अति साधारण होते थे। पारसी रंग-मंचों पर पात्र किसी खास अवसर पर सहसा प्रवेश करते थे। 'प्रसाद' के नाटकों के 'सहसा प्रवेश', 'प्रवेश', और 'प्रस्थान' इस प्रकार के हैं। "'चन्द्रगुप्त' मे अलका के प्रस्थान कर जाने पर गांधार नरेश का कुछ ही सेकडों के बाद उसे ढूँढ़ने के लिए निकालना इसी प्रभाव अन्तर्गत आता"। 'सहसा प्रवेश' की कड़ी निन्दा पश्चिम के आधुनिक आलोचकों ने की है। किन्तु उनकी आलोचना को हम लोग परिमार्जन के साथ ही ग्रहण करेंगे। प्रथम तो नाटक-कार के हाथ-पाँव यों ही बँधे रहते हैं। यदि 'सहसा प्रवेश' को पूर्णतया हटा दिया जाय तो उनका कर्म और भी दुरूह हो जायगा। दूसरे 'सहसा प्रवेश' के कारण कहीं कहीं वस्तु-स्थिति का सौंदर्य इतना बढ़ जाता है हम अनायास ही 'ड्रेमेटिक' (नाटकीय) आदि बोल उठते हैं। हाँ, इसकी अधिकता नहीं होनी चाहिए। प्रसाद मे इसका अतिशय बाहुल्य है। यही उनका दोष है।

चौथा दोष रंगमंच से सम्बन्ध रखता है। कहा जाता है कि इनके नाटकों मे कुछ ऐसे युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य होते हैं जिनका अभिनीत होना असम्भव-सा हो जाता है। इनके नाटकों की अभिनयोपयोगिता के सम्बन्ध मे हम अन्यत्र विचार करेंगे।

पाँचवाँ दोष यह है कि इनके गीत जहाँ एक ओर समस्त नाटक पर 'सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति सञ्चरण करते' और art of reading का आनन्द देते हैं वहाँ दूसरी ओर कथा के प्रवाह में शैथिल्य भी उपस्थित कर देते हैं। 'प्रसाद' जी कहीं-कहीं केवल अपने सुन्दर गीतों को

ही स्थान देने के लिए कथा वस्तु को भी उनके अनुकूल कर डालते हैं। गीत वस्तु या प्रवाह मे सहायक होने के स्थान पर कथा वस्तु ही गीतों के प्रवाह की ओर अग्रसर होने लगती है। कुछ गीत बहुत लम्बे और अनावश्यक हैं। 'प्रसाद की काव्य प्रवृत्ति सर्वत्र और प्रमुख रूप से प्रविष्ट हो जाती है। हमारा ख्याल है प्रसाद उसे रोकने मे अपने को सर्वथा असमर्थ पाते हैं; इतनी प्रबल है यह प्रवृत्ति। उनका कवि प्रत्येक स्थल पर सजग रहता है और बलपूर्वक अपना-अपना उच्च स्थान प्राप्तकर लेता है।......इन्हीं के कारण उनका काव्य एव काव्यगत सौंदर्य अंतिम सीमा पर पहुँच गया है किन्तु उपन्यासों, कहानियों एव नाटकों के क्षेत्रों से इन प्रवृत्तियों ने प्रसाद को न तो टेकनिक का ध्यान रखने दिया है और न वह उच्च कोटि की कलात्मकता का निदर्शन कराने दिया जिनसे उक्त विषयों की विशेषता प्रकट होती है'। गीतों की विस्तृत आलोचना दूसरी जगह की जायगी।

छठा दोष हास्य की योजना भी वस्तु की चुस्ती को कुछ न-कुछ विशृंखल करती है। हास्य के निदर्शन के लिए कुछ अनावश्यक दृश्यों और पात्रों का सृजन करना होता है जिनसे वस्तु का विकास तो कुछ होता नहीं उलटे ध्यान-परिवर्तन के कारण रस-परिपाक में बाधा पहुँचती है। 'विशाख' में पिंगल तथा तरला का परिहास तथा सरला की भिक्षुद्वारा बंचना, ये दो दृश्य व्यर्थ ही आ पड़े हैं। 'अजातशत्रु' और 'स्कंधगुप्त' के परिहासात्मक दृश्य भी कथा की रसात्मका के प्रवाह में रोड़े से आ पड़े हैं।

सातवाँ दोष रोमान्टिक प्रकृति की तृप्ति के लिए भी कुछ घटनाओं और पात्रों का सृजन हुआ है। नहीं तो सुवासिनी, विरुद्धक, मागंधी, विजया आदि पात्रों और उनकी कथाओं की कोई आवश्यकता न थी।

चरित्रांकन

अभिनयशीलता के बाद चरित्रांकन ही नाटकार की कुशलता की सर्वोपरि कसौटी है। चरित्र-चित्रण के मग में लेखक की भावुकता को दूर तक समगति से डग भरना पड़ता है ताकि चरित्र की एकता न टूटे। सरस्वती की साधना में सधा व्यक्ति ही इस परिक्षा में गौरव (credit) के साथ उत्तीरर्ण होता है। कहना न होगा कि जयशंर प्रसाद एक ऐसे ही सधे हुए कलाकार थे।

प्रसाद ने भारतीय इतिहास के प्राचीन खँड़हरों से कथा की सामग्रियाँ ही नहीं बटोरी हैं वरन् कलापूण प्रतिमाएँ भी निकाली हैं। उन्होंने 'गडे मुर्दे ही नहीं निकाले हैं' उन ककालों में प्राणों का स्पन्दन भी भरा है। प्रसाद के पात्र अपने-अपने युगों के सजीव प्रतिनिधि हैं—मन से, वचन से, कर्म से। 'विशाख' नाटक के बौद्ध भिक्षुक उस युग के प्रतिनिधि हैं जब बौद्ध के अनुगामी विहारों में विहार करने लगे थे और कंचन और कामिनी का जादू उनके सर चढ़कर बोलने लगा था। विशाख, प्रेमानंद, आदि, उनके आचरणों के विरुद्ध होनेवाली सबल प्रतिक्रिया के प्रतीक हैं। अजातशत्रु, विरुद्धक, प्रसेजित् और छलना गौतम के पूर्ववर्ती उस युग के प्रतिनिधि हैं जब हिंसा, अराजकतापूर्ण स्वच्छदता, और शीलहीन मर्य्यादोल्लघन का प्राबल्य था और बिम्बसार, वासवी तथामल्लिका बौद्धकालीन करुणा, समवेदना एवं त्याग की प्रतिमूर्त्तियाँ हैं। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, अलका, मालविका आदि उस मौर्य काल की सच्ची तसवीर उपस्थित करते हैं जब आर्यावर्त्त के

अधिवासियों ने राष्ट्र के एक सबल नेता की छत्र-छाया में एकत्र होकर विदेशी आक्रमणकारियों से मातृभूमि की रक्षा करनी चाही थी।

प्रसाद के नाटकीय पात्रों में, ऊपरी ढंग से देखने पर, एक प्रकार का साम्य दीखेगा। मुख्यतः इसके दो कारण हैं।

(१) प्रसाद का कवि प्रसाद के नाटकार से प्रबलतर है। प्रसाद, कहीं भी हों, कविता की उपेक्षा नहीं कर सकते। स्वभावतः प्रसाद के लगभग सभी पात्रों को कुछ-न कुछ कवि प्रसाद के कवित्व और दार्शनिकता का प्रसाद मिला है। यही कारण है कि अधिकांश पात्र भावुक दीखते हैं और महत् क्षणों (high moments) में उनकी हृदय-उपत्यका से कवित्व की निर्झरणी फूट ही पड़ती है। तभी तो दृढ़ नीतिज्ञ चाणक्य भी बाल-स्मृतियों का भावुकतापूर्ण वर्णन करता है और सैनिक विरुद्धक भी यौवन के प्रणय-स्वप्न का मादक चित्र आँकता है।

प्रसाद के नाटक भारतीय इतिहास के एक विशिष्ट गौरवमय युग के संधि-कालों के हलचल पूर्ण वारावरण से विनिर्मित हैं। वातावरण के इस साम्य के कारण भी प्रसाद के पात्रों मे समरसता आई है। यही कारण है कि विशाख, स्कंदगुप्त, चद्रगुप्त, आदि, में वहुत कुछ चारित्रिक एकता है और अजातशत्रु, विरुद्धक, पुरगुप्त आदि में विचित्र प्रकार का साम्य है। कश्यप, शान्तिभिक्षु और देवदत्त की एक श्रेणी बन सकती है और सुरमा, दामिनी, श्यामा और विजया की गणना एक कोटि में हो सकती है। वरुण, प्रेमानंद, गौतम, दाण्ड्यायन और मिहिरकुल स्वामी एक प्रकार के आचार्य दीखते हैं और करुण त्याग की दृष्टि से कल्याणी, देवसेना, मल्लिका और कोमा एक वर्ग में परिगणित हो सकती हैं।

किन्तु यदि हम निकट से इन पात्रों का अध्ययन करें तो पायेंगे कि

इनकी स्थूल अभिन्नता को चीरती हुई भेद की एक सूक्ष्म रेखा भिन्न-भिन्न पात्रों को भिन्न-भिन्न परिधि मे घेरकर बैठी है। चन्द्रगुप्त और स्कन्धगुप्त में परिस्थिति की भिन्नता तो है ही, सस्कार का भी भेद है। अजातशत्रु और विरुद्धक दोनों दुर्विनीत और विद्रोही राजकुमार हैं। दोनों उस कठोर दुर्दमनीय पुरुष-भावना के प्रतीक हैं जो महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए तूफान की तरह प्रलयंकर और विध्वंसकारी रूप धारण कर लिया करती है। किन्तु अजातशत्रु मे जहाँ सत्ता की लिप्सा है वहाँ विरुद्धक मे अपमान की तितिक्षा। विरुद्धक की-सी प्रखरता, ओज, आत्म निर्भरता अजात में कहाँ ? उसका पराक्रम तो 'गुरुदेव' और लिच्छवी माता की धरोहर है। मल्लिका की अतल धीरता और असीम शक्ति की उपलब्धि पश्चात्तापपूर्ण करुणा से युक्त देवसेना या कोमा में नहीं हो सकती। समता के अन्तराल में बैठी यही विषमता (Diversity in unity) प्रसाद की नाटकीय प्रतिभा की द्योतक है।

कहीं-कहीं दो विभिन्न पात्रों मे पारस्परिक विभिन्नता के रहते भी कुछ संस्कारगत साम्य रहता है जो परिस्थिति की विपरीतता के नीचे दबा होता है। अन्त में किसी महात्मा की छाया में दोनों एक-रस हो जाते हैं। शायद यही प्रसाद का वैषम्यपूर्ण साम्य (unity in diversity) है।

चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में प्रसाद ने एक निश्चित विधान की अवतारणा की है। प्रसाद के नाटकीय पात्रों के चारित्रिक विकास में एक मूर्त क्रम है। प्रथमावस्था में नाटककार अपने पात्रों की कुछेक सस्कारगत प्रवृत्तियों की झाँकी देता है और तब अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों की योजना कर उनकी सत् अथवा असत् प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर देता है। अन्त में किसी अलौकिक क्षमता वाले व्यक्तित्व के सहयोग से वे अपनी परिस्थितिओं पर विजय पाते हैं और पूर्ण मनुष्य

बनते हैं। चन्द्रगुप्त की संस्कार-जन्य प्रवृत्ति है राष्ट्रीयता और स्वदेश-प्रेम। गुरुकुल के अध्ययन-काल में ही यह बात लक्षित हो गई है। सिंहरण, अलका, मालविका, चाणक्य आदि के सहयोग के रूप में परिस्थिति ने इस प्रवृत्ति को प्रखरता और क्रियाशीलता दी है। अन्त में चाणक्य की नीतिज्ञता की सहायता से चन्द्रगुप्त अपनी हवस पूरी करता है। अजातशत्रु के सांस्कारिक गुण हैं महत्वाकांक्षा और स्वातन्त्र्य-प्रियता। प्रथम दृश्य में ही पाठक या दर्शक इस तथ्य को जान लेता है। अनुकूल परिस्थिति अर्थात् लुब्धक, देवदत्त, छलना आदि की सक्रिय सहानुभूति के कारण उसकी असत् प्रवृत्तियाँ उग्ररूप धारण करती हैं। आगे चलकर प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उसे मुँह की खानी पड़ती है। अन्त में मल्लिका और वासवी के सम्पर्क में उसके चारित्रिक अवगुण तिरोहित होते हैं और मानवीय गुणों से लसित होकर वह अंतिमबार हमारे सम्मुख उपस्थित होता है।

एक बात और। प्रसाद के नाटकीय पात्रों पर विचार करते समय हम उस आदर्शवाद की भी उपेक्षा नहीं कर सकते जिसका निरूपण नाटककार ने इन पात्रों में किया है। यदि हम देव पात्रों को अलग कर दें तो पायेंगे कि प्रसाद ने मानव को सबलताओं और दुर्बलताओं, खूबियों और खराबियों से युक्त देखा है। प्रसाद के पात्रों में एक द्वंद्व रहता है—सत् और असत् प्रवृत्तियों का, देव और पशु का। अन्त में सत् प्रवृत्तियाँ ही विजयिनी होती हैं। देवत्व (God in man) पशुत्व (Animal in man) पर आधिपत्य पाता है। यही प्रसाद का आदर्शवाद है। यह द्वंद्व दो प्रकार का हुआ करता है—बाह्यद्वंद्व और अन्तर्द्वंद्व। बाह्यद्वंद्व के रूप में दो संस्कृतियों के मध्य लड़ाई छिड़ती है और अन्तर्द्वन्द्व में मनुष्य अपनी अंतःवृत्तियों से झगड़ता है। इन मानवीय पात्रों

को हम दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम कोटि में वे पात्र आते हैं जिनमें सत् प्रवृत्तियों की अधिकता है और कुप्रवृत्तियों की न्यूनता। इन पात्रों के सामने आती हैं प्रतिकूल परिस्थितियाँ जिनके कारण इनकी सफलता कुछ क्षणो के लिए संदिग्ध हो जाती है और तब देव पात्रों की सहायता से वे अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करते हैं। विशाख, ध्रुवस्वामिनी, वासवी, चन्द्रगुप्त इसी तरह के पात्र हैं।

दूसरी कोटि में वे पात्र आते है जिनके आरम्भिक जीवन में कुप्रवृत्तियाँ ही सबल रहती हैं। अनुकूल परिस्थिति के कारण कुछ क्षणो के लिए वे उग्ररूप धारण करती है और पात्र जघन्य, गर्हित कुकर्म करने में भी नहीं हिचकते। किन्तु तदोपरान्त हवा का रुख बदलता है, परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती हैं। पात्र को ठोकरें खानी पड़ती हैं। अन्त में संयोगवश वे किसी देव-पात्र के सम्पर्क में आते है और अपने विकृत रूप का ज्ञान पाकर ग्लानि के अनुताप में तपकर अपने को शुद्ध बनाते हैं। ऐसे पात्र पुस्तक के अन्त में या तो काषाय धारणकर लेते हैं या कलुषरहित पूर्ण मनुष्य बन जाते हैं। नरदेव, अजातशत्रु, विरुद्धक, छलना, मागंधी इसी प्रकार के पात्र है। पात्रों मे यह परिवर्तन संभवतः बौद्ध साहित्य की देन है जिसमें किसी व्यक्ति के प्रभाव से 'शत्-शत् मनुष्यों का चारित्रिक परिवर्तन' होता देखा गया है। अपनी आदर्श-निष्ठा से प्रेरित होकर प्रसाद ने यह परिवर्तन तो कराया किन्तु अपने आदर्शवाद के लिए जिस आकस्मिक परिवर्तन को आधार बनाया वह कला की दृष्टि से एक दोष बन गया। द्विजेन्द्र के पात्रों का परिवर्तन अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है, क्योंकि उसका आधार है मनोविज्ञान। प्रसादीय पात्रों का परिवर्तन बलात् जान पड़ता है और इसलिए कुछ अस्वाभाविक भी। मल्लिका के दो-चार शब्दों के सुनने मात्र से अजात और विरुद्धक

में आनेवाला आमूल परिवर्तन खटकता है और इसी तरह विकट घोष और सूरमा का पाश्चात्ताप भी निर्बल आधार पर अंकित जान पड़ता है। हाँ, कहीं-कहीं परिवर्तन जीवन के निराशापूर्ण अनुभवों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के फलस्वरूप हुआ है जैसे मागंधी और दामिनी के चरित्रों में। यहीं प्रसाद की कला प्रतिभा की पराकाष्ठा पर बैठ उनकी सामर्थ्य का निर्घोष करती दीख पड़ती है। मागंधी का चरित्र-निर्माण जयशंकर प्रसाद की कारीगरी (Craftmanship) की अपूर्व देन है।

'वस्तु-विन्यास' शीर्षक निबंध मे यह कहा गया है कि प्रसाद के नाटकों में कुछ ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व के पात्र होते हैं जिनका प्रभुत्व नाटक की अखिल अभिव्यक्ति पर होता है। वे कथा के प्रवाह को जिस ओर चाहते हैं मोड़ देते हैं। यही बात उनके चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध मे भी लागू होती। प्रभावशील पात्रों के रूप में प्रसाद अपने पात्रों की गति-विधि का संचालन-सूत्र अपने हाथ में रखते हैं जब कि प्रेमचंद अपने पात्रों को स्वच्छंद विचरने देते हैं। प्रेमानंद, चाणक्य, गौतम, ऐसे ही अलौकिक और प्रभावकारी स्वभाव (Coammanding nature) के पात्र हैं। इनके कारण अन्य पात्रों के विकास में सरलता तो आती है किन्तु उनका स्वाभाविकरूप प्राकृतिक ढंग से निखर नहीं पाता।

नाटककार चरित्र-चित्रण के लिए निम्नलिखित साधन-चतुष्टय का उपयोग करता है :—(i) पात्रों की निजी मुखरित वाणी (ii) स्वगत-कथन (iii) अन्यपात्रों की तत्सम्बन्धी उक्तियाँ और (iv) पत्रों का निजी कार्य-कलाप। प्रसाद ने भी इनका व्यवहार किया है। किन्तु अन्यपात्रों की उक्तियों का परोक्ष सहारा प्रसाद ने उतना नहीं लिया है जितना अन्य तीन प्रत्यक्ष साधनो का। हाँ प्रसाद के पात्रों की स्वगत-उक्तियाँ कहीं-कहीं अत्यधिक लम्बी हो गई हैं और वस्तु के प्रवाह में

अवरुद्धता डालती हैं। कारण यह है कि जब प्रसाद किसी पात्र के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति करने लगते हैं तो उनका कवि सजग हो उठता है और लेखक भावों के बादल को रोकने मे सर्वथा असमर्थ हो जाता है। उपदेशात्मक प्रवृत्ति के कारण प्रेमचंद के उपन्यासों में भी यह दोष आया है। सौंदर्य-प्रियता के कारण टेनिसन में भी वर्णन की दीर्घता देखते हैं।

प्रसाद ने निकट से मानव-जीवन का अध्ययन किया था और उसकी सम्पूर्णता देखी थी। इसीलिये प्रसाद के चरित्र-चित्रण का क्षेत्र अपरिमित है। उसमें पुरुष हैं, नारी हैं, क्लीव हैं। विरक्त महात्मा हैं, अनुरक्त युवक हैं, साहसिक सैनिक हैं, कुकर्मी नर-पिशाच हैं, दार्शनिक है, कवि हैं। महिमामयी महिषी हैं, स्नेहमयी माताएँ हैं, महत्त्वाकांक्षिणी-महिलाएँ हैं, वासना-पीड़ित कामिनियाँ हैं, त्यागशीला ललनाएँ हैं। फिर भी सामूहिक रूप से यह कहा जा सकता है कि नारी-हृदय की अभिव्यक्ति में जयशंकर प्रसाद को जितनी सफलता मिली है उतनी पुरुष-हृदय की वृत्तियों के विश्लेषण में नहीं। इसके कुछ कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(1) प्रसाद वैभव की अपार राशि के बीच उत्पन्न हुए और वातावरण की रंगीनियों के बीच पले। अतः उनमें सौंदर्य-प्रियता का आना एक प्रकार से अनिवार्य था। प्रसाद की अपनी प्रवृत्ति भी रोमान्टिक थी। आगे चलकर बौद्ध-साहित्य के अध्ययन-काल में बौद्धकालीन करुणा ने उन्हें अभिभूत किया। और नारी सौंदर्य (रूप और गुण दोनों का) रोमान्स और करुणा की समष्टि है। स्वभावतः जीवन के आरम्भ ही से प्रसाद का नारी के प्रति एक प्रबल आकर्षण था। उनके नाटकों मे सदा 'स्त्रीत्व की प्रधानता' रही है। 'स्त्रीमय कला' उनके सामने नाचती रही

हैं। स्त्रीपात्रों की प्रधानता में, गीतों की मूर्च्छना में, भाषा की लुनाई में, रोमान्टिक दृश्यों की योजना में, भावों की सुकुमारता में हम प्रसाद के 'नारी-हृदय' के दर्शन पाते हैं। अतः चरित्र-चित्रण में लेखक की तूलिका की सहानुभूति नारी को ही मिलती है।

(ii) आज का युग पीड़ितों का युग है, उपेक्षितो का युग है। नारी युग-युग से उपेक्षित रही है। इसलिए यह युग नारी के प्रति सक्रिय सहानुभूति रखता है। नारी-जागरण और सभी क्षेत्रों में उनका प्राधान्य देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि यह युग नारी-प्रधानयुग है। युग-कवि प्रसाद पर इस नारी का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

प्रसाद के सभी नाटकों में स्त्री-पात्रो की प्रधानता रही है। पुरुष स्त्रियों के इंगितों पर मरकट की नाईं नाचते रहते हैं। पुरुष मानों शतरंज के गोटे हैं जिन्हे नारी जहाँ चाहती है रख देती है। 'विशाख' नाटक की आधार-शिला ही नारी है। यदि प्रकोष्ठ में चन्द्रलेखा की सलोनी मूर्ति न रहती तो विशाख कार्य की ओर आकृष्ट ही न होता। 'राज्यश्री' में भी नारी ही प्रधान है। 'अजातशत्रु' नाटक की कथा का सूत्र भी स्त्रियों के ही हाथो में है। मगध में विप्लव का सूत्रपात छलना करती है और कौशल में शक्तिमति। अजातशत्रु और विरुद्धक तो उनके उपकरण (tools) मात्र हैं। वे अपनी माताओं के इशारे पर यंत्र-वत् कार्य किये जाते हैं। विफल-प्रेम से उद्विग्न हो विरुद्धक कुछ अस्त-व्यस्त हो उठता है किन्तु माता क्षण भर में उसकी शिथिलता दूर करती है और प्रतिज्ञा के बन्धन में बाँध कर ही लौटती है। मल्लिका की मंत्रणा से अजातशत्रु भी अन्यमनस्क-सा हो जाता है और उसकी विमुखता देख कर ऐसा जान पड़ने लगता है कि अब वस्तु की दीवारे ढह जाएँगी। किन्तु छलना का उपालम्भ अजात में नवीन शौर्य भरता है और वह

पुनः कार्य की ओर अग्रसर होता है। अन्त में जब कथा के तन्तु विस्तृत हो चतुर्दिक बिखर जाते हैं उन्हे सँभालने के लिए भी लेखक को नारी का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। मल्लिका और वासवी वस्तु के बिखरे हुए ततुओं को बटोरकर नाटक को एक कलात्मक पर्यवसान देती हैं। स्त्रियों की इस प्रधानता के कारण पुरुष पात्रों के चरित्रों को निखरने का अवसर ही नहीं मिला। विरुद्धक में अजात से अधिक प्रखरता आई है, चूँकि वह कुछ काल के लिए माता के अजिर से दूर रहता है और आत्मनिर्भरता का सबल पकड़ कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। अजात के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास का भी एक अवसर आया था जब वह कौशल के कारागार में बद था। किन्तु लेखक कथा की परिसमाप्ति के लिए शायद अधीर हो उठा और वहाँ भी द्रुतगति से वासवी आ पहुँची और अजात को सीखचों से बाहर निकाल लाई। 'ध्रुवस्वामिनी' तो नारी-जागरण का ही प्रतिफलन है। नारी के शौर्य-सौष्ठव का प्रदर्शन ही नाटक का मुख्य विषय है। शकराज की कामुकता और रामगुप्त की क्लीवता ध्रुवस्वामिनी की नाटकीय उद्भावना की प्रतिकूल पृष्ठभूमि है। चन्द्रगुप्त का स्थान सहायक का ही है। अतः सर्वत्र नारी प्रधान रही है और उनकी प्रधानता के कारण पुरुष पात्र के स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रमुख रूप से व्यक्त नहीं हो पाए हैं। केवल 'चन्द्रगुप्त' नाटक में ही पुरुष प्रधान हुआ है क्योंकि चाणक्य जैसे अद्वितीय नीतिज्ञ की सहायता प्राप्त करने का उसे सयोग प्राप्त हुआ है।

(iii) प्रसाद ने जीवन की विभीषिका देखी थी, प्रस्तुत भारतीय जीवन की कोलाहलपूर्ण हलचल को देखा था। इस कोलाहल से वे आक्रात हुए थे और निदान की खोज में एक ओर उन्होंने प्राचीन खँडहरों में झाँका था और दूसरी ओर नारी के हृदय में। उनका विचार

था कि पुरुष अहंकार में फूला रहता है और सत्ता के मद में अंधा होने के कारण जीवन के प्रकृत रूप को नहीं देख पाता। इसीलिए मनुष्य का यह हाहाकार है। पुरुष सागर की ऊपरी सतह है जहाँ हवा का हलका झोंका भी असख्य ऊर्मियाँ उकसित कर सकता है। किन्तु नारी का हृदय समुद्र की निचली सतह है जहाँ बडे-बड़े प्रलयंकर प्रभंजनों के प्रकोप का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पुरुष दुखः में प्रकट हो जाता है, नारी उसे धीरता से सह लेती है। अतः नारी ही जीवन की गहराई में उतर सकती है। नारी के हृदय में ही अमृत का वह स्रोत है जिसमें अवगाहन करने से पुरुष का हाहाकारी ताप मिट सकता है। जीवन की विपरीतता के बीच बैठकर नारी जीवन के तथ्य का उद्घाटन कर सकती है। 'कामायनी' में प्रसाद की नारी ने कहा है—

'तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन'।

'कठोरता का उदाहरण पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री-जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन रूप दिया है—रमणी का रूप।' न्यूमैन (Newman) ने कहा था—If thy soul is to go higher into spiritual blessedness it must become an woman, yes however manly Thou mayest be amongmen men.

प्रसाद का भी विचार है कि 'स्त्रियों का कर्त्तव्य है कि पाशववृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है उस स्नेह, शीतलता,

और सदाचार का पाठ उन्हे स्त्रियों से ही सीखना होगा।' प्रसाद के पुरुष-पात्र नारी के व्यक्तित्व की पाठशाला में जीवन की सीख ग्रहण करते हैं। इस कारण भी उनके चरित्रों में उतना उत्कर्ष नहीं आता जितना नारी-पात्रों में। विशाख अन्त तक उद्धत रहता है। प्रेमानंद के प्रेम का उपदेश उसे चन्द्रलेखा से ही सीखना होगा जिसने नरदेव को क्षमा-दान दिया और उसकी सुश्रूषा की। जीवन का अर्थ शकराज ने नहीं समझा। उसका अर्थ कोमा के अंचल में ही लिपटा रहा। देवसेना की उदात्त मूर्ति की प्रखर ज्योति में स्कंधगुप्त के चरित्र की चमक भी फीकी पड़ जाती है। 'अजातशत्रु' पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है कि बिम्बसार अंधकार में टोह लगा रहा है और वासवी ने सत्य को पा लिया है। और मल्लिका! उस ऊँचाई को न कोई पुरुष-पात्र पहुँच सका, न कोई स्त्री पात्र। 'अजातशत्रु' में नारी की शिक्षा का प्रभाव इतना सबल हो गया है और पुरुष उससे इतना प्रभावित हो गए हैं कि उनके जीवन का पहला अंश उनके जीवन के पिछले अंश से सर्वथा भिन्न और टूटा-सा लगता है। मल्लिका के कतिपय शब्दों से प्रभावित होने के कारण विरुद्धक, अजात और प्रसेनजित् के चरित्रों में स्थूल जोड़ आ गए हैं।

प्रसाद के कुछ प्रमुख पात्र

अजात शत्रु

अजातशत्रु का व्यक्तित्व महत्त्वाकांक्षिनी माता के अभिशाप और दार्शनिक, निस्पृह पिता के वरदान की बेमेल समष्टि है।

शैशव के सुनहले दिनों मे जब उसके संस्कारों का निर्माण हो रहा था तभी कल्पित सापत्न्य-ज्वाला और मूक गृह-अपमान की आग में जलने वाली माता के अमंगलमय शिक्षण-संकेतों ने उसके जीवन-तरु की जड़ में विष घोल दिया जिसके कारण उसका अखिल व्यक्तित्व ही विषाक्त बन कर कुरूप हो उठा। फलस्वरूप छलना का छौना मगध का शीलवान् राजकुमार न बनकर बन गया दुर्विनीत कुणीक।

उद्धत उद्दंड अजात की प्रथम झाँकी कहानी का पहला पर्दा उठते ही मिलती है। दुराग्रही कुणीक क्षुब्ध मन और कुटिल भृकुटी लिए प्रकोष्ठ में खड़ा है। उसे अपने चित्रक के लिए मृगशावक चाहिए। लुब्धक ने एक मृगशावक पकड़ा तो था किन्तु मृगी के करुणा-भरे सजल लोचनों को देखकर उसके हाथ शिथिल पड़ गए। उद्धत अजात उसकी चमड़ी उधेड़ने पर तुला है। अशांत अजात के पास विचार-विमर्श का अवकाश कहाँ ? बहन पद्मावती स्नेहवश लुब्धक का पक्ष ग्रहण करती है किन्तु उद्दंड कुणीक उसकी 'बढ़ाबढ़ी सहन नहीं कर सकता'। पद्मावती करुणा की सीख देती है किन्तु आन्दोलित अजात को ऐसा जान पड़ता है मानो—'यह पद्मा बार-बार मुझे अपदस्थ किया चाहती है'।

ईर्ष्या से आलोड़ित छलना पति के राजमुकुट से अजात का अलक सँवारना चाहती है। अधीर पुत्र की अधीर माँ कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा तत्क्षण चाहती है। जर्जर बिम्बसार पेशोपेश में हैं। गौतम की गिरा उनकी स्वीकृति लेती है। ऐसे ही अवसर पर जब गौतम ने कुणीक से पूछा—'क्यों कुमार! तुम राज्य का कार्य मंत्रि-परिषद् की सहायता से चला सकोगे?' तो जैसे उसकी सारी आकांक्षाएँ इन्हीं शब्दों में मुखरित हो उठीं—'क्यों नहीं! यदि पिता जी की आज्ञा हो।' महत्वाकांक्षा के बरसाती वेग ने संयम का सारा सेतु छिन्न-भिन्न कर दिया है। सत्ता की अतृप्त पिपासा! राजकुमार ने शिष्ठाचार का भी अतिक्रमण कर दिया। दुर्विनीत कुणीक!

अजात को राज्य मिला और बिंबसार को संन्यास। अपनी अपनी किस्मत! देवदत्त की कुमंत्रणा और बर्बर लिच्छवी माता के सम्पर्क ने अजातशत्रु को न केवल निरंकुश बना दिया है वरन् क्रूर और बर्बर भी। वाणप्रस्थ आश्रम में भी वृद्ध बिम्बसार की गति-विधि पर कड़ी आँख रक्खी जाती है। मगध-सम्राट के राज-प्रासाद के सिंहद्वार से भिक्षुकों की टोली खाली झोली लिए निराश लौट जाती है।

याचकों का लौटना बिम्बसार को खलता है। अनुरागिनी वासवी काशी के राजस्व के लिए प्रसेनजीत का सहयोग प्राप्त करती है। सत्ता के मद में अंध अजात स्नेहमयी वासवी के बेबस आँसू न निहारकर काशी की प्रजा के विद्रोह में 'विमाता का व्यंग-स्वर' सुनता है और बरस पड़ता है—'इसका प्रतिकार आवश्यक है। इस प्रकार अजातशत्रु को कोई अपदस्थ नहीं कर सकता।' पंक्ति-पंक्ति से अजात की अहम्मन्यता, मत्सर तथा प्रतिद्वंदिता फूट रही है।

वह प्रतिकार करेगा। यहीं उसके जीवन में जटिल संघर्ष आता है। उसके जीवन का एक नया पृष्ठ खुलता है और अजात एक नये अभिनय (role) में हमारे सामने आता है। अब वह चपल कुणीक न होकर तत्पर संचालक है। राज्य के भार ने उसे कूट-नीति भी सिखा दी है। वह जानता है कि आंतरिक क्रांति के अवसर पर निरंकुशता घातक होती है। अतः वह नियमपूर्वक परिषद् का आह्वाहन करता है और नीतिज्ञ चाटुकार की तरह परिषद् के सभ्यों के समक्ष अपने विचार रखता है।

"आप लोग राष्ट्र के शुभ चिंतक हैं। जब पिता जी ने यह प्रकांड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैंने किशोर-जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किन्तु बात वैसी न थी।.........मैंने केवल इस बोझ को आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था।.........अपने राष्ट्र और सम्राट को आपलोग अपमानित करना चाहते हैं?" स्वभावतः परिषद् के सभ्य पक्ष में ही मत प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, वह काशी के लिए विरुद्धक के साथ भी षड्यंत्र रचता है और एक सामूहिक मोर्चाबन्दी की बन्दिश बाँधता है।

प्रसेनजित् की हार होती है और अजात के गले में विजय की वरमाला पड़ती है। वह घायल प्रसेनजित् को ढूँढ़ता मल्लिका की कुटी में आता है। मल्लिका के आँगन के अशोक की शीतल छाया में अजात के जीवन का तीसरा अध्याय आरम्भ होता है। उस महिमामयी महिषी के देखते ही अजात का 'हृदय आप-ही-आप प्रणाम करने को झुक रहा है।' मल्लिका की 'पिघला देने वाली वाणी' के समक्ष अजात

का अहंकार क्षत-विक्षत हो जाता है। मल्लिका ने 'उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता' के उपदेश दिए और अजातशत्रु ने मगध पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा की। ऐसा जान पड़ता है मानो अजात का सारा अहंकार, सारा प्रतिक्रोह उसकी लिच्छवी माता की धरोहर थी जो बलपूर्वक उस पर लाद दी गई थी।

किन्तु अजात मे वैसा चारित्रिक बल भी नहीं है कि वह अपनी प्रतिज्ञा पर अचल, अटल रहे। मल्लिका का प्रभाव छलना के सामने ढीला पड़ जाता है और अजात माता की इच्छाओं के समक्ष घुटने टेक देता है। वह 'माता की जैसी आज्ञा' कहकर युद्ध-स्थल को प्रस्थान तो करता है किन्तु यह लड़ाई भी जैसे उस पर लाद दी गई है। अब उसमें पूर्व की सी उमंग नहीं है।

अजात अब प्रसेनजित् का बंदी है। बन्दीगृह की 'श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण-सी' आने वाली वाजिरा अजातशत्रु के जीवन के चौथे पृष्ठ का उद्घाटन करती है। 'प्रेम द्रोह को पराजित करता है।' दोनों एक दूसरे को आत्मसमर्पण करते हैं। इस अवसर पर अजातशत्रु के मुँह से उद्गीरीत पंक्तियों में कहीं कहीं झूठी भावुकता (Sentimentality) आ गई है। उसका यह वाक्य—'राजकुमारी! तो हम लोग एक दूसरे को प्यार करने के अयोग्य हैं, ऐसा कोई मूर्ख भी न कहेगा'—हास्यास्पद हो गया है।

वासवी के सहयोग से अजात को मुक्ति मिलती है। उसकी आँखों के समाने से अज्ञान का आवरण तिरोहित हो जाता है। ग्लानि और आत्मसमर्पण उसका संबल है। वह अहंकार की गठरी पटक पिता के चरणों में प्रणत हो जाता है।

अजातशत्रु और विरुद्धक

'अजात शत्रु और विरुद्धक दोनों उस कठोर दुर्दमनीय पुरुष भावना के प्रतीक हैं जो महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए तूफान की तरह प्रलयंकर और विध्वंसकारी रूप धारण कर लिया करती है।'

दोनों राजकुमार हैं। अजातशत्रु मगध के विश्रुत सम्राट का पुत्र है और विरुद्धक पराक्रमी कौशल महीप का। दोनो के चरणों में वैभव की अपार राशि है। दोनों की माताएँ राजनीति की आग से खेलने वाली मवत्वकांक्षिनी नारियाँ हैं जिनके सम्पर्क में इन दोनों किशोर कुमारों की कोमल प्रवृत्तियाँ कुंठित हो गई हैं और इनके सुकुमार कलेवर कठोर कुलिश-काय बन गए हैं।

इन दोनों राजकुमारो का प्रथम परिचय महत्वाकांक्षी किशोर के रूप में मिलता है। महत्वाकांक्षा से उप्रेरित हो, गौतम के यह पूछने पर कि 'क्यों कुमार! तुम राज्य का कार्य मंत्रि-परिषद् की सहायता से चला सकोगे'? अजातशत्रु बोल उठता है—क्यों नहीं, यदि पिता जी आज्ञा करें! इधर प्रसेनजित के यह शका करने पर कि 'क्या राज्याधिकार ऐसी प्रलोभन की वस्तु है कि कर्त्तव्य और पितृ-भक्ति एक बार ही भुला दी जाए?' विरुद्धक निःशंक बोल उठता है-'पुत्र यदि पिता से अधिकार माँगे तो इसमें दोष ही क्या है?

किन्तु परिस्थितियाँ विभिन्न हैं। अजात के पिता दार्शनिक, बौद्धकालीन करुणा से अनुप्राणित, जर्जर-दुर्बल बिम्बसार हैं जब कि विरुद्धक के पिता सबल नीतिज्ञ और निरंकुश नृप प्रसेनजित् हैं। अतः पहला जहाँ पुत्र को सिंहासन दे स्वयं संन्यास ग्रहण कर लेता है वहाँ

दूसरा निर्भीक, अशिष्ट कुमार को न केवल 'युवराज पद से वंचित' ही करता है वरन् निर्वासित भी।

सत्ता की प्राप्ति कर अजातशत्रु क्रूर और निरंकुश बनता है और निर्वासन से विरुद्धक साहसी शैलेन्द्र। एक को देवदत्त और परिषद् की मत्रणा तथा सेना की शक्ति मिली है जब कि दूसरा अपने मार्ग में एकाकी है। किन्तु यह एकाकीपन भी विरुद्धक के जीवन का वरदान है। इस अकेलेपन ने ही विरुद्धक को वह स्वावलंबन, वह आत्मनिर्भरता, वह आत्मविश्वास दिया है जिसके बल पर वह पावा-वीर बन्धुल से भी लोहा लेता है और अजातशत्रु से मिलकर एक प्रबल राजनीति का नियामक बनता है। ऐसा ओज, ऐसी प्रखरता, ऐसी आत्मनिर्भरता अजात में कहाँ? उसका पराक्रम तो 'गुरुदेव' और लिच्छवि माता की धरोहर जान पड़ता है।

एक बात और। अजातशत्रु में जहाँ सत्ता की लिप्सा मुख्य है वहाँ विरुद्धक मे अपमान की तितिक्षा। अजातशत्रु की माँ का 'मूक अपमान' कल्पित है जब कि विरुद्धक की माता का अपमान सत्य की कठोर भूमि पर खड़ा है। मुक्तकेशिनी माता ने जब सजल लोचनों से कहा—'इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान करने का तुम्हे अधिकार नहीं,' तो विरुद्धक के लिए यह आवश्यक था कि वह कहता—'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त मे नहाकर इस कोशल के सिंहासन पर बैठ कर तेरी वंदना करूँगा।' स्नेहमयी विमाता और निस्पृह पिता के प्रति गलत दृष्टि कोण रखने के कारण अजातशत्रु हमारी घृणा का पात्र बनता है और विरुद्धक को हमारी सहानुभूति मिलती है।

हाँ, इन दोनों राजकुमारों के कठोर बाह्य के भीतर कोमल भावनाओं की एक पीन अन्तर्धारा बह रही है। जीवन के प्रभात में विरुद्धक ने एक मनोहर स्वप्न देखा था जो विश्व भर की मदिरा बन कर उसके उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया। यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्धरात्रि में उसने मल्लिका को आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। प्रसेनजित् के बन्दीगृह में अजात ने वाजिरा को श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण-सी आते देखा। विरुद्धक मल्लिका पर मुग्ध हुआ और अजात ने वाजिरा को आत्मसमर्पण किया। किन्तु यहाँ भी भाग्य ने अजात का ही साथ दिया। मगध को कौशलकुमारी मिल गई किन्तु विरुद्धक मल्लिका को घेरे में रखने के लिए 'कँटीली झाड़ी' बन कर रह गया और वह बन्धुल के 'उष्णीष का फूल' बन ही गई। विफल प्रणय की यह टीस विरुद्धक के जीवन में अन्त तक बनी रही।

दोनों दुर्विनीत कुमारों के षड़यंत्र विफल होते हैं। उनका जीवन तिमिराच्छन्न होने ही वाला है कि ममतामयी नारी के वरद कर के स्पर्शमात्र से उनके जीवन की काली घटाएँ दूर होती हैं। मल्लिका की नैसर्गिक कुटी में इन दोनों का कायाकल्प होता है, दोनों की प्रवृत्तियों में महान् परिवर्तन होता है। मल्लिका के हस्तक्षेप से विरुद्धक को पुनः पितृ-स्नेह मिलता है और वासवी के प्रयास से अजात सीखचों से बाहर आता है।

दोनों ग्लानि और आत्मभर्त्सना की आग में अपने चारित्रिक कलुष को भस्म कर पावन बनते हैं और अन्त में अहंकार छोड़कर पिता के चरणों में झुक जाते हैं।

चाणक्य

कला के दो रूप रहे हैं-विराट् और कोमल। कला के विराट् रूप में विराट् त्याग, विराट् प्रतिहिंसा आदि का चित्रण होता रहा है। जब हमने शक्ति के विराट् रूप की कल्पना की तो दुर्गा प्रकट हुई और जब नीति के विराट् स्वरूप को साकार करना चाहा तो चाणक्य आविर्भूत हुए। और हमने कभी भी अपने विराट् आदर्शों में हृदय की दुर्बलताओं को स्थान नहीं दिया क्योंकि 'भावना से कर्तव्य ऊँचा है।' इसीलिए चाणक्य की नीति में केवल ऋषित्व है—ममत्वहीन, मोहहीन। संसार में ऐसा कोई भी आदर्श चरित्र नहीं जिसने अपने तेज से एक महान् राज्य की स्थापना की हो और स्वय अत तक लँगोटी पहने रहा हो। इसी चाणक्य को, कुटी और भृकुटी के इसी आदर्श को विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' में रक्खा है। एक ओर भृकुटी तनी है, जरा भी किसी ने गर्वोक्ति की, तेवर बदला, कि ब्रह्माग्नि की ज्वाला उसे भस्म करने दौड़ी। पाँव मे कुश का तिनका गड़ा कि जहाँ तक दृष्टि गई पृथ्वी कुशविहीन हो गई। नन्द ने शिखा खोलकर ऋषि का अपमान किया और चाणक्य ने तब तक चोटी नहीं बाँधी जब तक नन्द का सारा वंश पञ्चतत्त्व को प्राप्त नही हो गया। इसी सनातन आदर्श का पालन करते हुए विशाखदत्त ने चाणक्य के हृदय को सामने नहीं आने दिया।

बीसवीं सदी मे इब्सन के नाटकों का प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ा। बंगभूमि मे द्विजेन्द्र बाबू 'इब्सोनियन' आदर्शों से प्रभावित हुए और अपने 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य मे उन्होंने हृदय की कोमल भावनाएँ भर दीं। कुछ ऐसे भी आदर्श होते हैं जिनके साथ क्रीड़ा नही की जा सकती। राम, कृष्ण आदि ऐसे ही आदर्श नरपुंगव हैं। आदर्श के

साथ खिलवाड़ करने से द्विजेन्द्र लाल के चाणक्य का चरित्र तो चित्य हो ही गया है, मस्तिष्क के प्रति हृदय की प्रतिक्रिया के प्रतिफलन होने के फलस्वरूप उसमें कला का उत्कर्ष भी नहीं आ पाया। मस्तिष्क और हृदय का जो सग्राम नाटककार के मन में चल रहा था, वही चाणक्य में उतर आया है इस द्वंद्व के बीच में पड़ा चाणक्य कभी अतिभावुक ('Sentimeṭal) और कभी विक्षिप्त-सा लगता है। चाणक्य के हृदय में एक महान् अभाव का सृजन कर दिया गया है जिससे उसका सारा जीवन आलोड़ित-विलोड़ित है। प्रतिक्रिया के आवेश में वह आगे बढ़ता जाता है—विवेक विहीन पागल की भाँति। सारा आदर्श मटिया मेट हो गया है ! पिता के निर्वासन ने उसे विवशता दी है, पत्नी की मृत्यु ने विषाद दिया है और कन्या के अपहरण ने उसके प्राणों को झकझोर दिया है। शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' के शायलॉक की भाँति वह गली-गली में "कन्या-कन्या !" की रट लगाए फिरता है। जीवन की पीड़ा असह्य हो उठी है। वह उसे भूलना चाहता है। वह जानता है कि राजनीति आग है, वह ब्राह्मण का क्षेत्र नहीं। किन्तु जान पर बन आने वाले अवसाद को नीति के क्रोध में भूलने के लिए नीति का संबल पकड़ता है। वह स्वय नहीं जानता कि कहाँ जा रहा है। वह रह रह कर चौंक भी उठता है किन्तु दूसरी राह न देख कर वह इसी लीक पर बढ़ता जाता है। ऐसा है द्विजेन्द्र लाल राय का चाणक्य। आधुनिक नाटकों में सबसे पुष्ट भाषा है द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों की। उनमें चरित्रों का आकर्षण भी है। किन्तु आदर्शच्युत चाणक्य में शायद वे खूबियाँ न आ पाई।

मुद्राराक्षस के ममताहीन नीतिज्ञ चाणक्य और द्विजेन्द्र लाल के आदर्शच्युत, भावुक चाणक्य के बीच में खड़े हैं जय शंकर प्रसाद के

चाणक्य। आदर्श की दृष्टि से चाहे हम इस चाणक्य को भी महत्त्व न दें किन्तु कला की दृष्टि से तो श्रेय देना ही होगा।

कुलपति ने चाणक्य को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है। अब भावी स्नातकों को अर्थ शास्त्र पढ़ा कर गुरु-दक्षिणा चुका रहे हैं। वे दूरदर्शी हैं। वे जानते हैं कि यवन सैनिक क्यो आ रहे हैं और उनकी गति-विधि क्या होगी। वे निर्भीक हैं। जब आम्भीक राज्य के अन्न से पलकर भी अपने विरुद्ध कुचक्र रचने का दोषारोपण चाणक्य पर करता है तो वे कहते हैं—'राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में वह विचरता है और अमृत पीकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है'।

देश-प्रेम चाणक्य की नस-नस में भरा है। म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है! चाणक्य राष्ट्र के बिखरे ततुओ को बटोर कर आर्य जाति का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। भारत को एक और अखंड रखना होगा। इसलिए सिंहरण और चन्द्रगुप्त को चाणक्य ने कहा—'तुम मालव हो और यह मगध; यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से सतुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।'

चाणक्य के कठोर मांसल आवरण के भीतर कोमलता का एक मधुर स्रोत बह रहा है। बाल-स्मृतियों के बीच बैठे पिता, सुवासिनी आदि उसे सिहरा जाते हैं।

किन्तु अत्याचार के लिए उसके हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला भी धधकती रहती है। अनाचार के नीचे कुटुम्ब पर कुटुम्ब दबे जा रहे हैं

और कुसुमपुर फूलों की सेज पर ऊँघ रहा है। क्या इसलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया है? इतना अत्याचार! सहना असम्भव है। चाणक्य मगध को उलट देगा। नया बनायेगा, नहीं तो नष्ट ही कर देगा। वह नन्द की राज-सभा में जाता है। बिलकुल निर्भीक बन नन्द से विवाद करता है। नद ने कहा—'ब्राह्मण! तुम बोलना नहीं जानते थे तो चुप रहना सीखो।' चाणक्य ने कहा—'मेरा हृदय यह नही मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ।' जो कुछ उसे कहना है वह निडर कहेगा। यवनो की विकट वाहिनी निषध पर्वत माला तक पहुंच गई है। अकेले पर्वतेश्वर ने साहस किया है, इसलिए मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करनी चाहिए। नन्द चाणक्य को धक्के देकर निकाल देने की धमकी देता है। चाणक्य नन्द को प्रमाद मे भूला हुआ व्यक्ति मानता है। प्रतिहार चाणक्य की शिखा पकड़ कर घसीटता है और चाणक्य का सारा ताप सिमट लर बोल उठता है—खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले कुत्ते! खींच ले! परन्तु यह शिखा नन्द-कुल की काल-सर्पिणी है, वह तब तक न बंधन मे होगी जब तक नन्द-कुल निःशेष न होगा।

चाणक्य बन्दी है। मन में संकल्प और विकल्प का तूफान आया है। वह सोचता है कि यदि एक बार निकल पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथो में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय मे कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। वह प्रण करता है कि दया न किसी से माँगूगा और न अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसीपर करूँगा ही।

चन्द्रगुप्त की सहायता से चाणक्य बन्दी-गृह से बाहर निकल आता

है। वह पर्वतेश्वर को चन्द्रगुप्त की सहायता कर मगध की सेना को अपनी पताका के नीचे लाने की सलाह देता है। पर्वतेश्वर उसे अपनी सीमा के बाहर जाने का हुक्म देता है। दलित ब्राह्मणत्व का प्रतिशोध और अधिक उग्ररूप धारण करता है।

चाणक्य अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होगा। उसमें आत्मबल है, आत्म-विश्वास है। उसकी वाणी में शक्ति है; मस्तिष्क मे नीति है। 'उसकी चिता नहीं। पौधे अधकार में बढ़ते हैं और मेरी नीति-लता भी उसी भाँति विपत्ति-तम मे लहलही होगी। हाँ, केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा। एक बात समझ लो चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हो।' सिहरण और अलका नट और नटी बनते हैं तथा चन्द्रगुप्त और चाणक्य सँपेरा और ब्रह्मचारी के रूप धारण करते हैं। वे सभी मगध के एक छोटे गुल्म के पास क्रीड़ा करते हैं। पर्वतेश्वर उन्हे बन्दी बनाता है। कल्याणी के साथ परिचय कर चन्द्रगुप्त मगध सेना का सेना-नायक बनता है। सिल्यूकस और फिलिप्स के साथ युद्ध करने में सिहरण पर्वतेश्वर की सहायता करता है। सिकन्दर युद्ध बन्द करने की आज्ञा देता है। चन्द्रगुप्त मगध-सेना की याद दिलाकर पर्वतेश्वर से युद्ध जारी रखने का आग्रह करता है। किन्तु वह दिया हुआ वचन लौटाना नही चाहता।

इस युद्ध में भारतीय सैनिकों की वीरता देखकर यवन-सेना विपाशा के उस पार से ही लौट गई। स्कधावार मे मालवों की युद्ध-परिषद् बैठी। चाणक्य के प्रयत्नों ने क्षुद्रकों और मालवों में मेल करा दिया और चन्द्रगुप्त को सम्मिलित सेना का सेनापति बनाया। राक्षस को मगध की रक्षा की याद दिला तथा यह कहकर कि नन्द की सुवासिनी

के साथ उसके अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है रोक लेता है। आत्महत्या करते समय पर्वतेश्वर का हाथ पकड़ लेता है और अपनी भूलो का प्रायश्चित करने के लिए चन्द्रगुप्त की सहायता कर नन्द के हाथों से मगध का उद्धार करने का उससे वचन लेता है। जब राक्षस को मालूम होता है कि चाणक्य ने मेरे विरुद्ध षड़यंत्र रचा है तब वह भाग निकलता है। किन्तु उसी की मुद्रा और चाणक्य का पत्र लेकर सुवासिनी अन्धकूप मे डाल दिये जाते हैं। चाणक्य ने इसी प्रसंग को लेकर प्रजा मे दावाग्नि फैला दी। नागरिक नन्द के प्रासाद पर टूट पड़ते हैं। युद्ध होता है। चन्द्रगुप्त नन्द को बन्दी बनाता है। शकटार नन्द की छाती में छुरा घुसेड़ देता है। चाणक्य मगध के स्वतंत्र नागरिकों को बधाई देता है। कल्याणी, जिसने मन ही मन चन्द्रगुप्त को वरण किया था, आज पिता के अभाव मे एकाकी बन कर आत्महत्या कर लेती है। चन्द्रगुप्त वहाँ उपस्थित है। चाणक्य प्रवेश कर, कहता है—'चन्द्रगुप्त ! आज तुम निष्कण्टक हुए'। वास्तव में चाणक्य का यह अट्टहास अस्वाभाविक है। इतनी क्रूरता विशाखदत्त के चाणक्य में होती तो शायद नहीं अखरती किन्तु मानवीय सतह पर खड़े प्रसाद के चाणक्य में ऐसी निर्दयता न होनी चाहिए थी।

सुवासिनी के साथ चाणक्य का प्रेम-संवध भी वैसा रूप पकड़ता है जिसकी परम्परागत चाणक्य कल्पना भी नहीं कर सकता था। किन्तु अन्त मे नाटककार ने उसे ऊपर भी उठा दिया है। सुवासिनी चाणक्य के चरणों मे लुंठित है। उससे संबंध जोड़ना चाणक्य की इच्छा पर निर्भर है। किन्तु वह इस संबंध को तोड़ देता है। उसे पीड़ा होती है किन्तु वह आत्मोत्सर्ग के आदर्श पर टिका रहता है।

उसे पीड़ा होती है किन्तु वह आत्मोत्सर्ग के आदर्श पर टिका रहता है। 'तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती है, क्रमशः उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है। और मैं अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ, यही मेरे लिए अच्छा होगा। मानव हृदय मे यह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का स्वरूप है। तब, हम लोग जिस सृष्टि में स्वतंत्र हो, उसमें परवशता क्यों माने ? मैं क्रूर हूँ, केवल वर्तमान के लिए; भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं, मनुष्य को सब कुछ त्याग करना चाहिए, सुवासिनी ! जाओ !......मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन दान; सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना; सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए बाहर न जाना; यही तो ब्राह्मण का आदर्श है। मुझे चन्द्रगुप्त को मेघ मुक्त चन्द्र देख कर, इस रगमच से हट जाना है !'

और सचमुच वह चन्द्रगुप्त के प्रशस्तभाल को राजतिलक से अलकृत कर नीति के रगमच से तिरोहित हो जाता है। मन्त्रित्व राक्षस को मिलता है और चाणक्य कोपीन धारण किए अंतिम बिदाई लेता है।

मागंधी

मागंधी का चरित्र-निर्माण जयशंकर 'प्रसाद' की कारीगरी (Craftsmanship) की अपूर्व देन है। ब्राह्मण-कन्या मागंधी, वारविलासिनी श्यामा और बौद्ध साहित्य वर्णित आम्रपाली का यह एकत्र संगठन अभिनव है, बेपनाह !

अपरिमित रूप-राशि, अनियंत्रित वासना और उच्छृङ्खल स्वच्छंदता लेकर मागंधी आई है। संसार की हाट में रूप का सौदा तो करना चाहा; किन्तु मूल्य देने वाला कोई न मिला। मधुकरी की

झोली फैलाने वाले गौतम ने भी जब पाणि-ग्रहण न कर उस रूप का तिरस्कार किया तो रूप-गर्विता की प्रतिहिंसा पदमर्दित सर्पिणी की भाँति फुफकार उठी। उदयन की राजरानी हुई, फिर भी वासना की ज्वाला न बुझी। कामिनी को कचन तो मिला किन्तु मान न मिला। उदयन के हृदय पर पद्मावती का अब भी एकांत अधिकार है। वासना से प्रेरित प्रतिहिंसा ने एक उग्र रूप धारण किया। मागंधी बरसाती नदी की भाँति क्षुब्ध हो उठती है। वह कपटाचरण करती है। गौतम और पद्मावती के सम्भाषण में वह अनुचित सम्बन्ध की कल्पना करती है। मद्यपान, मीठी, जबान, और स्त्री सुलभ तर्कों के सहारे उदयन के सशंक हृदय को उस ओर मोड़ती है और वीणा मे सर्प डाल विश्वास की मुहर लगाती है। किन्तु वारिद की एक क्षीण धूमिल रेखा ऊषा के प्रदीप्त प्रकाश को कब तक ढँक सकती है? षड़यत्र का उद्घाटन हुआ और मागंधी विहारकक्ष में आग लगा अन्तर्धान हो गई। इस प्रकार रूप-गर्विता, मान-खडिता, कपटाचारिणी मागंधी के जीवन का गर्हित अध्याय समाप्त होता है।

अब वह काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा है। अब धन और मान दोनों उसके चरणों पर लोटते हैं। किन्तु वासना के उन्माद मे शान्ति कहाँ? जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का बनिज करते करते वह ऊब गई है। वासना ने एक प्रचंड रूप धारण किया है। साहसिका श्यामा को साहसिक शैलेन्द्र चाहिए। उन्मादिनी की भाँति वह शैलेन्द्र के पास दौड़ जाती है और कहती है—"शैलेन्द्र, मैं तुम से प्रेम करूँगी। इसे दिल में रख कर मन मसोसा न करूँगी।

बहुत छिपाया-उफन पड़ा अब
सम्हालने का समय नहीं है।

अखिल विश्व मे सतेज फैला
अनल हुआ यह प्रणय नहीं है ॥"

उदयन के 'स्वर्ण-पिञ्जर' से निकल कर 'हरी डालों पर कसैले फलों' को श्यामा ने चखना ही आरम्भ किया था कि उसकी 'प्रणय-लता' पर आकस्मिक वज्रपात हुआ। द्वन्द्व में बन्धुल की हत्या हुई और घायल शैलेन्द्र बन्दी बना। किन्तु श्यामा फूल की तरह आई है, परिमल की तरह जायगी। स्वप्न की चन्द्रिका में मलयानिल की सेज पर खेलेगी। फूलो की धूल से अगराग बनायेगी, चाहे उसमें कितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़े। चाहे कितने ही प्राण जायँ, उसे कोई चिन्ता नहीं! कुम्हलाकर, फूलों को कुचल देने मे ही उसे सुख है। वह शैलेन्द्र को मुक्त करने के लिए कोई भी जघन्य कुकर्म कर सकती है। ऐसे ही अवसर पर उसके अजिर में समुद्रदत्त आता है। एक अजीब व्यावसायिक अदा से कुशल श्यामा समुद्र का स्वागत करती है, यौवन का गीत गाकर मुग्ध करती है और अन्त मे 'बलि का बकरा' बना उसे दडनायक के पास भेज देती है। शैलेन्द्र लौट आता है। किन्तु सदाचार की प्रतिष्ठा करने वाला कवि-मनिषी वासना की इस धाँधली को बर्दाश्त नही कर सकता। 'प्रसाद' की कवि-बुद्धि इसका न्याय (Poetic justice) करती है। संसार से पीड़ित और उपेक्षित हो श्यामा अनुरागिणी की भाँति शैलेन्द्र के चरणों में आत्मसमर्पण करती है और विश्वासिनी की तरह विनम्र आग्रह करती है कि—

निर्जन कर दो क्षण भर कोने में, उस शीतल कोने में।
यह विश्राम सम्हल जायेगा सहज व्यथा के सोने में ॥

किन्तु शैलेन्द्र सोचता है—"यह पामरी है। यह प्रेम दिखाकर

स्वतंत्रता हरना चाहती है। यह नागिन है, पलटते देर नहीं।" और वह उसका गला घोंट देता है। इस प्रकार वासना की प्रतिमूर्ति, व्यवसाय-कुशला और अन्त में विश्वासिनी-सी दीखने वाली मागधी के जीवन-नाटक का दूसरा पटाक्षेप होता है।

राम के पद-स्पर्श से पत्थर से अहल्या फूट निकली थी, गौतम के कर-सम्पर्क से श्यामा का शव बोल उठा। विगत जीवन में मिलने वाली आत्म प्रवचना और धोखे की याद कर तिलमिला उठती है। शैलेन्द्र उसके द्वार पर प्रणय की भीख माँगने आता है, किन्तु वह उसे लौटा देती है। अब वह आम्रपाली है। स्त्री-सुलभ स्निग्धता और सरलता की मात्रा कम हो जाने से उसके जीवन में जो बनावटी भाव आ गए थे वे अब केवल एक संकोचदायिनी स्मृति के रूप में अवशिष्ट रह गये हैं। गौतम के शब्दों में अब वह 'अग्नि के तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गई है।' जीवन के आरम्भ में मागंधी ने गौतम का सम्पर्क पाना चाहा था किन्तु हवस पूरी न हुई। 'वह समय ठीक भी नहीं था'। आज वह अपने आराध्य की छाया में विश्रांति ले रही है। मागंधी की नारी गद्गद् है। यह मागंधी के जीवन की त्रिपथगा का तीसरा घाट है।

छलना

छलना राजनीति की आग से खेलनेवाली महत्वाभिलाषिणी राज-महिषी है। इस 'लिच्छिवी-कुमारी की काया बर्बरता, अनियंत्रित महत्त्वाकांक्षा, उद्भ्रान्त वात्सल्य, अकारण सापत्न्य-ज्वाला और निरीह भोलापन इन्हीं पाँच तत्त्वों से बनी है।

वह उष्णता और महत्त्वाकांक्षा लेकर पितृ-गृह से मगध आई है। कुणीक को 'भरत खंड का सम्राट्' बनाने की और वीर प्रसूती होकर एक बार गर्व से चरण-वन्दना कराने की उसकी उत्कट इच्छा है। इसलिये शैशव में ही अजात को निर्बाध स्वच्छदता की हिंस्र सीख देती है।

छलना की प्रमुख संस्कार-जन्य प्रवृत्ति है उत्कट ममत्व। परिस्थिति का योग (देवदत्त की मंत्रणा) पाकर यह पुत्रस्नेह उद्दण्डता, अहमन्यता और मर्य्यादोल्लंघन का रूप धारण कर लेता है। पद्मावती के मंगलमय उपदेश में उसे षड़यंत्र दीखता है और वासवी के साभिप्राय मौन में 'नीरव अपमान' और 'सांकेतिक घृणा'। यह असह्य है। वह तत्क्षण कुमार के युवराज्याभिषेक की घोषणा चाहती है। उसके इस दुराग्रह में कुटिल देवदत्त का बड़ा हाथ है नहीं तो 'लिच्छिवी-कुमारी में इतना मनोबल कहाँ कि वह यों अड जाती'। अजातशत्रु का शौर्य छलना की धरोहर है और छलना का पराक्रम देवदत्त की इनायत है।

अब अजातशत्रु मगध-महीप है। छलना राजमाता है। देवदत्त सामंत है। भला छलना की ममता अब अराजकता का रूप क्यों न

धारण करे ? मगध-नरेश के सिंह-द्वार से भिक्षुओं की टोलियाँ खाली झोलियाँ लिए लौट जाती हैं और छलना के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। बिम्बसार को इसका दर्द है। वासवी काशी का राजस्व चाहती है और छलना युद्ध का आयोजन करती है। पुत्र की विजय होती है और माता मद में अंधी हो 'वबंडर' बन जाती है। वह स्वय आँधी की तरह दौड़ती हुई वासवी के कुटीर में आती है और विजय की खबर सुनाती है; क्योंकि यदि दूसरा होता तो 'संदेश भी अच्छी तरह नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता'। पुत्र-स्नेह में प्रमादिनी छलना !

किन्तु विधि का विधान ! दूसरी बार प्रसेनजित् और उदयन के संयुक्त आक्रमण के समक्ष छलना के छौने को भी घुटने टेकने पड़े। पुत्र बन्दी बनकर विदेश गया और पति प्रहरियों के बीच कुटी मे जर्जर जीवन बिता रहा है। छलना ! यह कैसा छलावा है, तेरी अशांत जिन्दगी की कैसी भीषण ट्रेजेडी है। इन सभी विषमताओं के मूल में क्या है ? वही धूर्त देवदत्त की प्रवंचना ही न ? उसी ने तो 'धर्म के नाम पर उत्तेजित' किया। छलना देवदत्त से उलझ जाती है। देवदत्त अपनी सफाई में कहता है 'तेरी राजलिप्सा और महत्त्वाकांक्षा ने ही तुझसे सब कुछ कराया, तू दूसरे पर क्यों दोषारोपण करती है, क्या मुझे ही राज्य भोगना है' ? छलना घर की रही न घाट की। वह कितनी निस्सहाय है आज और कितनी क्षुब्ध ! किन्तु पुत्र के अभाव ने उसके प्राण तक को आलोड़ित कर दिया है। वह कर्त्तव्याकर्तव्य का विवेचन नहीं कर सकती। वह अति क्षुब्ध है, अति अशात। 'घायल बाघिनी' है. वर्षा की पहाड़ी नदी है। देवदत्त को बन्दी बनाती है और 'भूखी सिंहनी' की

भाँति वासवी पर टूट पड़ती है—'ओह ! इतना साहस, इतनी कूट चातुरी ! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूँगी, जिसमे यह सब भरा था !' क्षुब्धता की पराकाष्ठा !

किन्तु महिमामयी वासवी के स्नेहोपचार के सामने छलना की प्रतिहिंसा उसी प्रकार एकबारगी शात हो जाती है जिस प्रकार अतल समुद्र में गिरने पर सरिता की उत्ताल तरगे। वासवी के आश्वासन के सामने छलना पानी-पानी हो रही है। स्नेहमयी जननी की इस पुनीत मूर्ति के समक्ष वह अपने को कितनी क्षुद्र पाती है। वह कुणीक की भीख मांगती है। सरल और स्पष्ट भाषिणी छलना ! तुझे परिस्थितियों ने खूब छला। वह नहीं जानती थी कि 'निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए, इस हृदय मे सचित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती।'

छलना बौद्ध-काल की कैकेई है। कैकेई ने भरत के लिए राजमुकुट माँगा और छलना ने कुणीक का राज्याभिषेक चाहा। उधर राम को निर्वासन मिला, इधर बिम्बसार को वाणप्रस्थ जीवन। इस काड के अत मे अवधपुर मे दशरथ की मृत्यु हुई, मगध मे बिम्बसार की। छलना और कैकेई दोनो ने पुत्र के लिए ही अपने अचल मे कलक के अगार बटोरा। दोनों परिस्थितियों की चपेट मे पड़ीं। एक ओर मथरा ने कान भरे, दूसरी ओर देवदत्त ने प्रवंचना की। दोनों माताएँ अपने पुत्रों को पहचानने में असमर्थ रहीं। अन्त में पश्चात्ताप के अनुताप में परीक्षा दे दोनों स्नेहमयी जननी के रूप में बाहर आयीं।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी 'प्रसाद' की सभी नायिकाओं में सबल और जागरूक है। उसमे युग-युग की पददलित नारी की विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त हुई है। 'कोमा' भारतीय नारी के उस सनातन रूप की प्रतिकृति है जो 'अवयव की कोमलता' लेकर जीवन मे सब से हारी रहती है और ध्रुवस्वामिनी उस पौरुषपूर्ण स्त्री की प्रतीक है जो अपनी कोमल काया के भीतर एक विराट शक्ति का अनुभव करती है, जिसके समक्ष संसार की सभी शक्तियाँ प्रणत हो जाती हैं। इसलिए नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी के चरित्रांकन के लिए कोमा को पृष्ठाधार बनाया है।

समुद्रगुप्त के विजयोपलब्ध्य में विजित पिता ने ध्रुवस्वामिनी को उपहार-स्वरूप दे दिया। वह गुप्त-कुल मे आयी। क्लीव रामगुप्त के साथ बेमन की ब्याह दी गई। यह सब कुछ अविरोध हो गया जैसे उसकी कोई हस्ती ही न हो, उसकी मरजी का कोई महत्व ही न हो। ध्रुवस्वामिनी के भीतर उसका अखिल नारीत्व अकुला उठा। दबा विद्रोह, विवशता और झुँझलाहट लेकर वह रंगमच पर प्रकट होती है। 'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न!' उसके इस प्रथम वाक्य के शब्द-शब्द से पुरुष के प्रति नारी का विवश विद्रोह फूट रहा है।

ध्रुवस्वामिनी ने जिस दिन चन्द्रगुप्त के रूप मे निरभ्र प्राची का बाल अरुण देखा था उसी दिन उसका मन राजकुमार के अलकों में उलझ गया था। विलासिनियों और मदिरा में उन्मत्त क्लीव पति के कारण, जिसका मधुर सम्भाषण भी दुश्वार है, वह मूर्ति उसके हृदय

पर बैठी रहती है। वह प्रेम करने के नारी सुलभ अधिकार से वंचित होना भी नहीं चाहती। चन्द्रगुप्त का हृदय है उसका 'नीड़' और रामगुप्त का राजप्रासाद है उसका 'स्वर्णपिंजर'। हाँ, मर्यादा की रक्षा के लिए वह अपनी आकाक्षाओं को हृदय में दबाये रहती है।

शकराज का दूत आता है और संधि के लिए ध्रुवस्वामिनी की माँग होती है। शिविर में शकराज है और अन्तःपुर में एक स्त्री है 'जो दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है।' रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी देकर 'भीतर और बाहर के सब शत्रु' को एक ही चाल मे परास्त करना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी के सामने यह प्रस्ताव रक्खा जाता है। वह शांत भाव से सब कुछ सुनती है। उसकी परिस्थिति में रक्खी गई स्त्री के लिए यह कोई अनहोनी बात न थी। 'रोष से फूलती हुई' व्यग्य की बौछार करने लगती है, —'क़िन्तु मै यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त साम्राज्य क्या स्त्री सम्प्रदान से ही बढा है?' तीव्र स्वर से पूछती है—'किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोडने की प्रतिज्ञा अग्नि-वेदी के सामने की है?' जब कायर पति ने कहा 'परन्तु रामगुप्त ने प्रतिज्ञा न की होगी। मै तो उस दिन द्राक्षासव मे डुबकी लगा रहा था।' तब पत्नी 'निस्सहाय होकर दीनता से' शिखर स्वामी की ओर देखने लगी। मत्री ने कहा कि राज्य के लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है। ध्रुवस्वामिनी तिलमिला उठती है। वह पुरानी लीक पर चलनेवाली नहीं है। वह नारी के प्रति होने वाले परम्परागत अत्याचार का विरोध करेगी। वह अपने अधिकारों को सहज में कुचलते नहीं देख सकती, उसमें आत्म-गौरव जो है।

'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझ कर उन पर

अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेंच भी नहीं सकते।' ध्रुवस्वामिनी गुप्तवंश को आपत्ति से बचाने के लिए स्वयं बाहर निकल जाना चाहती है। मंत्री उसे ऐसा करने भी नहीं देता। वह फिर छटपटा जाती है और रामगुप्त से गिड़गिड़ा कर कहती है—

'मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरणप्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई; किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को, पुरुष को, बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।'

मान का ऐसा दर्द उसके हृदय में है! किन्तु गौरवविहीन रामगुप्त ने कहा कि 'तुम्हे जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो।' किन्तु ध्रुवस्वामिनी 'उपहार मे देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं है।' उसमें रक्त की तरल लालिमा है, उसका हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। वह अपनी रक्षा स्वयं करेगी। रसना से कृपाण निकाल कर आत्म-विसर्जन करना चाहती है।

चन्द्रगुप्त उपस्थित होता है और वह रुक जाती है। ध्रुवस्वामिनी में केवल तरल भावना का आवेग ही नहीं, विवेक की स्थिरता भी है। अवलम्ब के अभाव में वह छटपटा रही थी। अब सहारा मिला है। वह स्थिर हो गई। विवश विद्रोह ने अब उत्साहपूर्ण रूप पकड़ा। चन्द्रगुप्त ने अपने हृदय के आकर्षण की बात कही और ध्रुवस्वामिनी पुलकित हो गई। चन्द्रगुप्त उसकी रक्षा के लिए शक-शिविर में जा ना

चाहता है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को अपनी भुजाओ में बाँध लेती है और जाने से मना करती है। वह इस आचरण को पाप, नहीं मानती। (यहाँ आधुनिकता की छाप स्पष्ट मालूम पड़ती है) चन्द्रगुप्त शक-शिविर के लिए प्रस्थान करता है और संकोच रहित हो ध्रुवस्वामिनी साथ हो लेती है।

'हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ। और भी एक विनोद, प्रलय का परिहास देखूँगी। मेरी सहचरी! तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेश, ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का!'

ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनों शक-दुर्ग के प्रकोष्ठ में पहुँचते हैं और पूर्व स्थिर योजना के अनुरूप आचरण करके शकराज का वध करते हैं। इस तरह ध्रुवस्वामिनी स्त्री के प्रति होने वाले अत्याचार का विरोध कर वीर रमणी की भाँति अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करती है।

अब वह समझ पायी है स्त्रियो की पराजय का कारण। 'पराधीनता की एक परम्परा-सी' उनकी नस-नस में—उनकी चेतना में—न जाने किस युग से घुस सी गई है। उन्हे समझ कर भी भूल करनी पड़ती है।' चन्द्रगुप्त को रामगुप्त बदी बनाना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी अब जरा भी हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं कर सकती। वह चन्द्रगुप्त से लौह-शृङ्खलाओं को झटक देने को कहती है। रामगुप्त महादेवी को चुप रहने कहता है। ध्रुवस्वामिनी कहती है—'क्या अब भी मैं महादेवी ही हूँ?' रामगुप्त —'और मेरी सहधर्मिणी?' ध्रुवस्वामिनी—'धर्म ही इसका निर्णय करेगा।' पुरोहित ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के विवाह को भ्रातिपूर्ण बधन मानता है। परिषद् बैठती है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त को बाहर जाने का हुक्म देती है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न होता है।

देवसेना

देवसेना जयशंकर 'प्रसाद' की सबसे अधिक करुण स्त्री-पात्र है। जब वह गाती है तब उसके 'भीतर की रागिनी रोती है' और जब वह हँसती है तब जैसे 'विषाद की प्रस्तावना होती है'। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती है। 'उसी में सब कुछ छिप जाता है'।

'देशाभिमान और नारी-गौरव, प्रणय की अरुणिमा और कुल की मान-रक्षा की कटिबद्धता, विषादपूर्ण उत्सर्ग और संगीत का संबल— ये ही देवसेना के जीवन के सरोसामान हैं।'

देश पर हूणों ने आक्रमण कर दिया है। देवसेना देश की स्वतंत्रता, स्त्रियों की प्रतिष्ठा और बच्चों के प्राणों की रक्षा के लिए चिंतित एवं प्रयत्नशील है। पिता के प्रतिकूल आचरण और विजया के कायरपन तथा ऐश्वर्यप्रियता के कारण उसे आन्तरिक दुःख होता है। शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी के आक्रमण के अवसर पर जयमाला दुर्ग-रक्षा के भार लेने का वचन देती है और देवसेना बंधुवर्मा को अन्तःपुर की रक्षा की चिता से मुक्त करती है। देवसेना में क्षत्राणी के हृदय का तेज है। भीड़ के अवसर पर वह अधिकाधिक जाज्वल्यमान होती है। युद्ध के बादल घिर घुमड़ रहे हैं और देवसेना वीणा पर गा रही है। अंतिम अवसर पर अपनी गरिमा के रक्षण के लिए कटि में छुरी रख लेती है। जब द्वार तोड़ कर शत्रु-सेनापति दुर्ग में प्रवेश करता है तो देवसेना एक वीर सैनिक के रूप में भीम की सहायता करती

है और अन्त में स्कंधगुप्त के सहसा आगमन से सब कुछ बच जाता है।

फिर भी देवसेना की सबसे प्रिय वस्तु है उसका प्रेम जिसे वह सबकी आँखों से बचाती हुई हृदय में सँजो कर रखती आयी है। वही उसका स्वर्ग है, जहाँ उसकी 'सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बना कर विश्राम करती है'। उसके मन में स्कद बसा है। किन्तु उसके प्रेम में विषाद है, कुढ़न है, क्योंकि स्कद के आकर्षण का केन्द्र विजया है और देवसेना उसके स्वत्वों का अपहरण नहीं कर सकती। वह एकांत टीले पर, शरद के सुन्दर प्रभात मे फूले हुए उस पारिजात वृक्ष की भाँति सबसे अलग रहेगी जो 'अकेले अपनी सौरभ की तान से दक्षिण-पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर ताली बजा कर, झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना सगीत, वह स्वयं देखता है—सुनता है'। उसी की तरह वह कोमल स्वर मे गाती है—

घने प्रेम-तरु-तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले
छाया है विश्वास की श्रद्धा - सरिता - कूल
सिची आँसुओं से मृदुल हैं परागमय धूल
यहाँ कौन जो छले

देवसेना के हृदय का यह अवसाद जब सीमा को छूने लगता है तो उसकी वेदना-झंकृत हृदय-वीणा से संगीत की स्वर-लहरी का प्रकम्पन फूट पड़ता है। यही कारण है कि संगीत उसका चिर-संगी बन बैठा है और उसे 'गाने का रोग'-सा हो गया है। वह करुणा की प्रतिमूर्त्ति है और संगीत करुणा की सजल अभिव्यक्ति। 'संगीत-सभा की अन्तिम लहर-

दार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सब की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन ! मेरे प्रिय गान !'

सफल सहायता के उपलक्ष्य में और राष्ट्र के त्राण के लिए बंधुवर्मा स्कंधगुप्त को मालव का सम्राट बनाना चाहता है। जयमाला विरोध करती है। उस समय त्यागशीला देवसेना के विशाल हृदय से यह उद्‌गार फूट पड़ता है—'भाभी ! सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल मे, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है। क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो; भइया को देखो—कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र !' क्षुद्रता और स्वार्थ-लिप्सा तो उसमें कभी आयी ही नहीं।

देवसेना महान् है और विजया क्षुद्र। देवसेना त्यागमयी है और विजया स्वार्थिनी। विजया को सन्देह है कि मालव का साम्राज्य पाकर स्कंद उसकी ओर से विमुख हो गया है। प्रतिहिंसा से प्रेरित हो वह भटार्क को वरण करती है। देवसेना उसे दम्भ के द्वारा छली गई विपथगामिनी समझती है। विजया को देवसेना की सरलवाणी मे व्यङ्ग सुनाई पड़ता है। वह बरस पड़ती है—'राजकुमारी ! मुझे न छेड़ना। मैं तुम्हारी शत्रु हूँ'। देवसेना धीरता से विश्वास दिलाती है कि उसने उसके मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा उसमें रोड़े नहीं बिछाये। विजया खुल पड़ती है—'उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया'। किन्तु देवसेना पूर्ण नारी है। वह 'मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती......।' समय आने पर वह इसका प्रमाण देगी। विजया के अस्वस्थ मन को विश्वास नहीं होता। वह देवसेना का अन्त चाहती है। प्रपंच-बुद्धि को उग्रतारा की साधना

के लिए महाश्मशान में एक बलि चाहिए। अच्छा सुयोग है। विजया देवसेना के साथ कपट कर श्मशान में उपस्थित होती है। प्रपंच-बुद्धि देवसेना को बलि के लिए शीघ्र प्रस्तुत होने की आज्ञा देता है। आदर्श और त्याग की भूमि मे पली देवसेना को नश्वर शरीर का मोह नहीं है। एक ही अरमान उसे पीड़ा दे रहा है। विजया ने प्रेम के अपहरण का दोष उस पर लगाया है। नारी के लिए यह सबसे बड़ा दोष है, क्योंकि प्रेम ही नारी का सर्वस्व है। कलंक का यह टीका लेकर देवसेना की नारी ससार से नहीं जाना चाहती। 'मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी।' उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता...।' प्रपंच-बुद्धि बध करने को उद्धत होता है और मातृगुप्त आकर देवसेना की रक्षा करता है। 'देवसेना' चकित होकर स्कंद का आलिगन करती है!'

अब स्कदगुप्त का आकर्षण देवसेना की ओर है। अब तक देवसेना की वेदना का कारण था वह द्वद्व जो उसके प्रणय और विजया के अधिकार के बीच मे चल रहा था। वह अब शात है। किन्तु उससे भी प्रबलतर युद्ध आ उपस्थित हुआ है। एक ओर देवसेना का प्रेम मचल रहा है और दूसरी ओर कुल की मर्यादा की रक्षा का प्रश्न हिमालय बन कर खड़ा है। बार-बार देवसेना के हृदय मे यही आशंका उठती है— 'प्रार्थना हुई है मालव की ओर से; लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।'. देवसेना का हृदय हाहाकार करता रहता है, किन्तु वह सयम की रास ढीली नहीं कर सकती। विवेक का इतना बल उसमे है। 'मेरा हृदय मुझ से अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिडकती है, कान कुछ सुनते ही नहीं! मैं सबको

समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्भाल कर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।' बेबसी को घेर कर देवसेना का यह चारित्रिक बल बैठा है। 'कूलों मे उफन कर बहनेवाली नदी, तुमुल तरङ्ग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा! परन्तु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।'

देवसेना ने देश की सेवा के लिए सभी सुखों को तिलाञ्जलि दे दी है। वह पर्णदत्त की कुटी मे रहती है और गीत गाकर मधुकरी लेती है। वहीं उसके जीवन की सबसे घनी परीक्षा होती है। स्कंद अपना ममत्व उसे अर्पित करके उऋण होना चाहता है। देवसेना इसमें मालव के उत्सर्ग का अपमान देखती है। स्कंद को साम्राज्य की इच्छा नहीं है। वह एकांत में, किसी कानन के कोने में, उसे देखता हुआ, जीवन व्यतीत करेगा। किन्तु देवसेना प्रकाश की उस मंजिल पर पहुँच गई है, जहाँ दुर्बलता की क्षीण रेखा भी अखरने लगती है। 'तब तो और भी नहीं। मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट्, क्षमा हो। इस हृदय में...आह! कहना ही पड़ा स्कदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसकी उपासना करने दीजिए। उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिए। नाथ! मैं आप की ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।' स्कंद भी कुमार-जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करता है।

स्कधगुप्त की वीरता और देवसेना की वाणी देश में क्रांति की नवीन लहर फैला देती है। आर्य-राष्ट्र की विजय होती है। देवसेना की एक

साध पूरी होती है, किन्तु दूसरी लिए वह अंत तक छटपटाती रहती है। सचमुच—

'रस - निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस'

हृदय में कोमल कल्पनाएँ उठती हैं। वह सबको सहलाती है। 'हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सबसे बिदा लेती हूँ।' और 'वेदना की बिदाई' लेकर वह 'इस जीवन के देवता और उस जीवन के प्राण' से सदा के लिए अवकाश लेती है।

हास्य की रूपरेखा

"It would be better for us to be once more a small outlandish people, and yet be renowned for this spirit than to bestride the earth and lose our laughter in gloom, suspicion and hate."

—J. B. Priestley.

हम भारतीयों पर विनोदहीनता के दोष का आरोप किया जाता है। किन्तु हमारी साहित्यिक परम्परा पर (आख्यायिकाओं और विशेषतः नाटकों पर) क्षण भर भी दृष्टिपात करनेवालों की दृष्टि में उपरोक्त कथन की व्यर्थता अवश्य झलकने लगेगी। हमने जीवन को निकट से देखा था (यूनान वालो के चश्मे से नहीं जिन्हे केवल दुःख ही नजर आता था) और इसलिए हमारे साहित्य में सुख और दुःख, हर्ष और विषाद धूप और छाया की तरह सर्वत्र अभिव्यास है। वरन् यह एक तथ्य है कि भारतीय नाटको के विदूषकों की अनुरूपता में पश्चिमीय देशों मे 'क्लाउन' और 'बफून' की कल्पना की गई।

नाटक का उद्देश्य जीवन की यथार्थता को अभिव्यक्त करना है और मानव विविधता-प्रिय प्राणी है। अतः नाटक में मानव-जीवन की एकरसता दिखाना अस्वाभाविकता को आमन्त्रित करना होगा। सम्भवतः इसी मानवसुलभ विविधता का निदर्शन करने के लिए हमारे जीवन-द्रष्टा आचार्यों ने नाटकों में भिन्न-भिन्न रसों का सन्निवेश किया था। किन्तु

इस विभिन्नता को प्रश्रय देने के लिए हास्य-रस का ही प्रयोग क्यों किया गया ? यह शायद इसलिए कि हास्यरस सबसे निरापद (harmless) रस है। इसका सामंजस्य सभी रसों के साथ सहज ही बैठ जाता है। एक बात और। प्राचीनकाल मे नृपों और राजकुमारों के मनोविनोद के लिए कई प्रकार के हँसोड़ व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे, जो राजा का मनोरंजन करते हुए छाया की भाँति उनके साथ लगे रहते थे। वे जाति के ब्राह्मण और हाजिर-जवाब हुआ करते थे। नायकों के अन्तरंग मित्र और विश्वासपात्र होने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त था। और तब नाटकीय विषयों का क्षेत्र इन राज प्रासादों के प्राचीरों से परिसीमित था। अतः प्राचीन नाटकों में कई प्रकार के विदूषकों (विट, चेट, पीठमर्द आदि) का समावेश हुआ है। इस राजकीय सम्पर्क का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि नाटकों में एक फालतू पात्र का सृजन हो गया; जिसका सम्बन्ध नाटक की मुख्य वस्तु से अधिक नहीं रहता था और जिसका कार्य सभी समय में खींसे निपोड़ना ही रहता था।

आज जब नाटक राज-प्रासाद के सिंहद्वारों का अतिक्रमण कर जीवन के विस्तृत क्षेत्र में आकर विश्व के अंग-प्रत्यंग में समा गया है और जब नाट्यकला में टेकनीक और मनोविज्ञान का प्राधान्य हो रहा है तब यह विदूषक सचमुच एक फालतू पात्र जँचता है। मनुष्य का जीवन हास्य और रुदन के तानेबानों से बुना हुआ है। वह हँसता है तो कभी रोता भी है। अतः विदूषकों का सदा हँसते रहना अस्वाभाविक लगता है, उचित यह है कि हास्य का प्रयोग गम्भीर पात्रों में ही हो। ऐसे पात्रों का जमघट लगाना जिनका नाटकीय वस्तु से नाममात्र का सम्बन्ध है नाट्यकला का दुरुपयोग करना है।

प्रसाद ने संस्कृत के प्राचीन नाटकों, विदेश के रोमान्टिक ड्रामा,

बंगला के भावुकता पूर्ण दृश्यकाव्यों और रंगमंच-प्रधान पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के नाटकों से प्रेरणा ग्रहण की थी और उनकी छाप प्रसाद की नाट्यकला के विभिन्न अंगों पर पड़ी है। हास्य के क्षेत्र में वे संस्कृत नाटको से साफ प्रभावित हैं। प्रसाद के विदूषक संस्कृत नाटक के विदूषकों की सन्तान हैं।

I प्रसाद के विदूषकों का नाटकों को मुख्य वस्तु से नाममात्र का ही संबंध रहता है और उनके हास्य की प्रणाली भी प्राचीन जान पड़ती है। 'अजात शत्रु' के वसंतक का कथा से कोई खास सम्पर्क नहीं। (वह तो केवल पद्मावती का एक दूत है)। महापिंगल ('विशाख') और मुद्गल ('स्कंधगुप्त') का भी यही हाल है। 'सज्जन' में प्राचीन परिपाटीवाला हलका और बालकोचित हास्य है। 'विशाख' का हास्य भी संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राचीन विदूषकोंवाला ही हास्य है। और इसी तरह।

II संस्कृत नाटकों के विदूषक ब्राह्मण हुआ करते थे। इसके दो कारण दिये जा सकते हैं। प्रथम तो क्षत्रिय राजा का विश्वासी मित्र विद्वान्, तीक्ष्ण बुद्धिवाला और उच्चकुल-उत्पन्न ही होना चाहिए था, क्योंकि उसकी संगति से विकार आने की सम्भावना न थी। ऐसे व्यक्ति प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करते थे। दूसरे हास्य की उत्पत्ति में असाधारणता अथवा विकृति पर आश्रित वैचित्र्य की प्रधानता हुआ करती है। यह विकृति रूप, वेश, संकेत, चरित्र, परिस्थिति और वाक्यों की हो सकती है। अतः जब एक उच्चवंश का समादृत ब्राह्मण जान-बूझ कर गौरवहीन और मूर्खतापूर्ण आचरण करता है तो हम उसमे चरित्र की विकृति पाते हैं, और उससे उत्पन्न वैचित्र्य के कारण हँस पड़ते हैं। प्रसाद के विदूषक भी ब्राह्मण ही हैं।

।।। प्राकृत तथा संस्कृत नाटकों के विदूषक पेटू थे। भास के सभी विदूषक इसी कोटि के हैं। 'अविमारक' का विदूषक 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' में वासवदत्ता की पुकार इसलिए करता है कि वह उसके लिए मिठाइयाँ रखती थी। मृच्छकटिक के विदूषक की जीभ भी कुछ कम तेज नहीं है। वसंतसेना के रसोई-गृह से आने वाली व्यंजनों और पकवानों की महक उसे रह-रह कर व्यग्र बना डालती है। कालिदास की 'शकुतला' का माढ़व्य भी कुछ कम पेटू नहीं है। 'रत्नावली' और 'नागानन्द' के विदूषक भी ऐसे ही हैं। इस पेटूपन के मूल में भी ऊपर कही हुई परिस्थिति की विकृति से उत्पन्न वैचित्र्य का ही रहस्य दीखता है। राजा के अंतरंग मित्र का पेट पीटना कुछ कम हास्यास्पद नहीं है। प्रसाद के विनोदी पात्र भी इन्हीं विदूषकों के समान पेट की पीड़ा से पीड़ित हैं। 'विशाख' के महापिंगल को खाने की चाट पड़ी है। वह अवसर आने पर यह कहते नहीं चूकता कि 'पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। अभी मैं उसका सर्वनाश कर डालूँ'। 'अजात शत्रु' के वसंतक की 'जीभ अच्छा स्वाद लेने के लिए बनी है, जीवक से भेंट होते ही वह युद्ध का होना ध्रुव बतलाते हुए कहता है—'... .. आक्रमण हुआ ही चाहता है। महाराज बिम्बसार की समुचित सेवा करने अब वहाँ हमलोग आया ही चाहते हैं, पत्तल परसी रहे—समझे न?'

जीवक—'अरे पेटू, युद्ध में तो कौवे-गिद्ध पेट भरते हैं।'

वसन्तक—'और आपस के युद्ध मे ब्राह्मण भोजन करेंगे—'

'स्कंधगुप्त' का मुद्गल तो इनका सरदार है। भटार्क ने यह प्रश्न उठाया कि 'जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँग कर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा'? मुद्गल ने उत्तर दिया—'रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर,

अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षय मजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता! इसके भीतर कुछ रख देखो, मैं किस शान्ति से बैठ रहता हूँ!' स्कंधगुप्त बन्धुवर्मा की सहायता के लिए गये है। गोविन्दगुप्त उसकी मगलकामना कर रहे हैं। किन्तु मुद्गल को अपने पेट की पड़ी है—'तब महाराज-पुत्र बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया है, शीघ्र रक्षा कीजिए!' मुक्ति की राह वह पहिचान गया है। 'मुक्ति का उपाय! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में. ....है।' इसलिए एकादशी के दिन भी मुद्गल के घर द्वादशी रहती है। 'हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी; क्योंकि ठीक मध्याह्न एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है, उसका गला दबा देती है; पेट पचकने लगता है!' इस प्रकार जयशंकर 'प्रसाद' का हास्य गतानुगत है।

ऊपर कहा गया है कि रूप, वेश, संकेत, चरित्र, परिस्थिति और वाक्यों की विकृति या असाधारणता हास्य के सृजन का स्थूल कारण है। किन्तु रूप, वेश, संकेत और चरित्र द्वारा उत्पन्न हास्य उतना प्रभावशाली और उत्कृष्ट नही होता जितना परिस्थिति और वाक्यों द्वारा उत्पन्न हास्य। प्रसाद के नाटकों में चरित्र और परिस्थिति के द्वारा हास्य का उद्रेक तो किया गया है जिसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है, किन्तु प्रधानता है छठवे प्रकार के हास्य की। एक विशेष प्रकार की शब्दावली और वाक्य-योजना के प्रयोग से हास्योद्रेक की चेष्टा, इनके नाटकों में, की जाती है। 'तुम्हारा नाम जो है सो', 'बुद्धि का अजीर्ण' और 'मूर्खता का पुटपाक' आदि शब्दावलियाँ इस कथन के प्रमाण है। वसन्तक के इन वाक्यों को देखिए—

'अहा वैद्यराज! नमस्कार। बस एक रेचक और थोडा-सा वस्ति··

कर्म्म—इसके बाद गर्मी ठंढी ! अभी आप हमारे नमस्कार का भी उत्तर देने के लिए मुँह न खोलिए। पहले रेचक प्रदान कीजिए। निदान में समय नष्ट न कीजिए' !

अथवा मुद्गल की इन पंक्तियों पर दृष्टि डालिए—

'वही-वही, सीता की सखी, मन्दोदरी की नानी त्रिजटा। कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम ! अपने को कवि भी लगाता था ! मेरी कुंडली मिलाई या कि मुझे मिट्टी में मिलाया। शाप दूँगा। एक शाप ! दाँत पीस कर, हाथ उठाकर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़ दादा बन जाऊँगा ! मुझे इस झंझट में फँसा दिया ! उसने मेरा क्यों ब्याह कराया..... ?'

एक बात साफ दीखेगी कि यहाँ वे 'प्रसाद' नहीं हैं जिन्हें हम गम्भीर पात्रों के उद्गारों की अभिव्यक्ति में देखते हैं। प्रथम उद्धरण में वैद्यक के पारिभाषिक शब्दों का सहारा लिया गया है और दूसरे में ज्योतिष का।

शब्दों और वाक्यों के प्रयोग के अन्तर्गत ही श्लेष, वक्रोक्ति (heightened tone), वाक्यावृत्ति (mannerism), विरोधाभास (paradox), आदि, साहित्यिक हास्य के विभिन्न उपकरण आते हैं। प्रसाद के नाटकों के हास्य में वाक्यावृत्ति (तकिया कलाम—mannerism) का ही प्राधान्य है। महापिंगल 'तुम्हारा नाम जो है सो' और मुद्गल 'जो है सो काणाम करके' इन्हीं तकिया कलामों के द्वारा हँसाना चाहते हैं।

'जो है सो काणाम करके यह तो अपने से नहीं हो सकता। उहूँ, जब कोई न मिला तो फूटी ढोल की तरह मेरे गले पड़ी'।

'जो है सो देवता प्रसन्न हों, आप का कल्याण हो! फिर शीघ्रता होनी चाहिए। पुण्य काल बीत न जाय......चलिए'। 'सज्जन' में वक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है और इसी कारण उसमें कुछ चमत्कार भी आ गया है। 'अजातशत्रु' में 'मूर्खता का पुट पाक', 'बुद्धि का अजीर्ण' आदि विरोधाभासों द्वारा हास्य का उद्रेक किया गया है, यद्यपि उनकी क्लिष्टता के कारण जरा भी सफलता नहीं मिली है।

पाश्चात्य कलाविदो ने हास्य के कई भेद बताये हैं—व्यग (satire) विनोद (wit) और हास्य (humour)। प्रसाद के नाटकों में सरल मधुर हास्य के दर्शन नहीं होते। हमें मिलता है क्लिष्ट साम्यों पर आधारित विनोद जो होठों पर हँसी लाने के बजाय माथे में दर्द भरता है। जब वसंतक अचानक आकर यह कहना आरम्भ करता है—'अहा! वैद्यराज! नमस्कार। बस एक रेचक और थोड़ा सा वस्तिकर्म्म—इसके बाद गर्मी ठढी!..........।' तो बेचारा जीवक ऊबकर मन ही मन कहता है—'यह विदूषक इस समय कहाँ से आ गया! भगवान्, किसी तरह हटे।' कथा के प्रवाह के बीच मे प्रसाद के विनोदी पात्रों के प्रत्येक पाठक या दर्शक के मन मे इसी प्रकार की झुंझलाहट होती है और उसकी इच्छा होती है कि वह अतिशीघ्र रंगमच में तिरोहित हो जाय। बसंतक के इतना कहने पर भी कि—'...अच्छा हाँ, कहो तो बुद्धि के अजीर्ण में तो रेचन ही न गुणकारी होगा? सुनो जी, मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और मिथ्या विहार से बुद्धि का। किन्तु महर्षि अग्निवेश ने कहा है कि इसमें रेचन ही गुणकारी होता है।' 'सुना है कि धन्वतरी के पास ऐसी पुड़िया थी कि बुढ़िया युवती हो जाय और दरिद्रता की केंचुल छोड़कर मणिमयी बन जाय! क्या तुम्हारे पास भी—उहूँ—नहीं है? तुम क्या जानो।'

—जीवक कुछ नहीं समझता है और यह कहने को बाध्य होता है कि—'तुम्हारा तात्पर्य क्या है ? हम कुछ न समझ सके।' साधारण पाठकों या दर्शकों की भी यही दशा है। माथापच्ची करने पर भी वे प्रसाद के विनोद की खूबियों को नहीं समझ पाते हैं। यही उनकी उपरोक्त झुंझलाहट का कारण है। मुद्गल भी दिमागी कसरत करके ही ये पंक्तियाँ कहता है—'किसी के सम्मान-सहित निमंत्रण देने पर, पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—एक दूसरी बात है; और भटकते, थकते, उछलते, कूदते, ठोकर खाते और लुढकते-हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु है .....इस बार की आज्ञा का पालन करता हूँ; परन्तु यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी कभी ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया'।

प्रसाद के विदूषक व्यग करने मे भी कुशल नहीं दीखते। शेक्सपियर के विदूषक यहीं प्रसाद के विदूषकों से श्रेष्ठ जंचते हैं।

'रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी। अक्षय तूणीर अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षय मजूषा का हाल बिना मेरे कोई नहीं जानता।'

'अरे ब्राह्मणों की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दीवालों की चोट से गिर जाने में, और शूद्रों की—हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है।'

इन पक्तियों में सरस हास्य का हलकापन नहीं। गंभीरता और तीखापन के कारण हास्य का चमत्कार कुंठित रह गया है।

इस प्रकार हास्य के क्षेत्र में प्रसाद को कहीं सफलता नहीं मिली। वे इस विषय में परम्परागत ही रहे हैं, मौलिक नहीं। इस अनुगमन में

भी हृदय का योग न होने के कारण उनके नाटकों में हास्य का अपेक्षित चाञ्चल्य नहीं आ पाया है। 'सज्जन' मे परंपराजन्य बालकोचित हास्य है। 'विशाख' के पेटू महापिंगल की बातों में भी कोई. आकर्षण नहीं। 'प्रायश्चित' और 'करुणालय' में विषय विपरीत होने के कारण हास्य का आविर्भाव नहीं हो पाया है। 'अजातशत्रु' में जीवक और वसन्तक हास्य की सृष्टि का प्रयत्न करते हैं। डाक्टरों और वैद्यों की खिल्ली उड़ाने की परिपाटी आज बहुत प्रसिद्ध हैं। मौलियर और द्विजेन्द्रलाल राय ने भी उन्हे छेड़ा है। इस प्रकार 'अजातशत्रु' में इन व्यक्तियों को खड़ा कर विविधता का सृजन अवश्य किया गया है। हाँ, सफलता नहीं मिली है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो (जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है) क्लिष्टता के कारण 'मूर्खता का पुटपाक' और 'बुद्धि का अजीर्ण' द्वारा उत्पन्न हास्य मधुर और आकर्षक नहीं हो पाया है। दूसरे यहाँ इतिहास की अवहेलना करके जीवक के साथ कुछ अन्याय किया गया है। इतिहास में जीवक बिंबसार का राज्यवैद्य है। उसने बुद्ध तक की चिकित्सा की थी। वह अपने समय का अद्वितीय वैद्य था। उसकी हँसी 'रेचक', 'पुटपाक' आदि के द्वारा उड़ाई गई है। इस हँसी में समवेदना और सहृदयता का अभाव है। और हास्य तभी मधुर एवं सरस होगा जब सहृदयता एवं सवेदना का योग हो। इनके अभाव में हास्य शुष्क और व्यंग तीव्र हो जाता है। * 'स्कंधगुप्त' का 'जो हैं

* (1) In order to be a humorist, you must have a needle eye for the in congruities, the pretentions, the inconsistencies, all the idiocies and antics of life but you must also have—strange and contradictory as it may seem—an unusual quickness and warmth of feeling, an instant affection for all that is loveable.

—English Humourists.

सो काणाम करके' वाक्यावृत्ति द्वारा उत्पन्न हास्य भी बेजान है। मुद्गल से जब-जब हमारी भेंट होती है तब-तब वह एक नवीन रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। उसका व्यक्तित्व दुरूह हो जाता है। 'एक घूंट' में जो हास्य है, वह विषय के अनुरूप और विज्ञान की नवीनता लिए हुए होने पर भी विनोद ही है। 'कामना' का हास्य अति तीव्र होकर तीखे व्यंग की कोटि में जा बैठा है। हाँ 'राज्य-श्री' में हास्य की कुछ मधुर अभिव्यक्ति हुई है।

मधुकर—देखूँ अब क्या होता है ?

(विकटघोष पीछे से आकर चपत लगाता है)

मधु०—(सिर सहलाता हुआ)—क्या यही होना था ! भाई, तुम हो कौन ? मुझसे तुमसे कब का परिचय है ?—यह परिहास कैसा !

विकट०—यह तुम नहीं जानते—हम तुम साथ ही न वहाँ पढ़ते थे। तुम एक चपत लगा कर गुरुकुल छोड़ के भाग आये और राज-सहचर बन कर आनन्द करने लगे। यह उसी का प्रतिशोध है। स्मरण हुआ ? मेरा नाम है विकटघोष !

मधु०—(विचारने की मुद्रा से)—होगा। होगा भाई, वह तो पाठशाला का लड़कपन था ; अब हम तुम दोनों बड़े हो गए। फिर, वैसी बात न होनी चाहिए।

विकट०—यह सब तो मित्रता में चलता ही रहता है ; पर तुमने मुझे पहचाना ठीक !

(ii) The humour of character is a tender mockery for which a balance between sympathy and antipathy is needed.

मधु०—ठीक ! क्या नाम ?

विकट०—विकटघोष ।

मधु०—ओह ! तब आप शंख-घोष करते । यह मेरी रोएँदार खँजड़ी क्यों बजा रहे थे ! आप इतनी रात को अतिथि !

विकट०—मैं शीघ्र चला जाऊँगा ।

मधु०—हाँ ! अधिक कष्ट करने की आवश्यकता नहीं—आप को दूर जाना भी होगा ?

विकट०—चुप रहो ; पहले यह तो पूछा ही नहीं कि तुम क्यों आये थे ।

मधु०—आप जाइये, मैं पूछ लूँगा ।

विकट०—मुझे तुम्हारी महारानी से मिलना है ।

मधु०—तब तो आप को उस ठाठ से आना चाहिए था । यह भयानक दाढ़ी और बिच्छू की दुम—नहीं-नहीं, डंक-सी मूँछ ! उहूँ ! आप तनिक भी सहृदय नहीं—इसे कुछ नीची कीजिए !

—राज्यश्री, पृ० ३२–३३ ।

मधु० —प्राण बचे बाबा, अब इन राजाओं के फेर में न पड़ूँगा ! ओह ! उस विकटघोष का बुरा हो, कहाँ से टपक पड़ा !............हूँ, सोंधी बास भी तो आ रही है—चलूँ ! नहीं, अब भागो ब्राह्मण देवता ! भीख मांग कर खा लेना ठीक है, पर राजा के यहाँ कदापि न.........'

—राज्यश्री, पृ० ४६–४७ ।

प्रसाद के नाटकों में जो उत्कृष्ट हास्य का अभाव है उसके कुछ कारण उपस्थित किये जा सकते हैं ।

१ प्रसाद की प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर न थी । 'प्रसाद जी हिंदी-साहित्य के सबसे अधिक गम्भीर 'कवि थे' । जीवन की गहराइयों

मे बैठ कर उसके गहन तत्त्वों की अनुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति ही उनकी साधना का लक्ष्य था और हास्य का सबंध जीवन के हलकापन से है।

२ प्रसाद की भाषा की गहनता भी हास्य की सरल प्रकृति के प्रतिकूल थी।

३ प्रसाद ने जिन युगों का चित्रण किया है वे संघर्ष के संधि-युग थे। उन संघर्षों के मूल कारणों का विश्लेषण कर निदान के चिंतन मे ही प्रसाद की प्रतिभा लीन रही, हास्य के बेल बूटे उगाने में नहीं। हास्य तो सुख-शान्ति के काल में ही प्राधान्य पा सकता है।

४ प्रसाद वर्त्तमान को देखकर भूत की ओर मुड़े थे। वर्त्तमान के नैराश्य-पूर्ण शैथिल्य को दूर करने और राष्ट्र में पौरुष भरने के लिए ही प्रसाद ने इतिहास का अध्ययन किया था। आज की विभीषिका उनके प्राणों को आलोड़ित कर चुकी थी और आज की जागृति ने उन्हे ढाका-मलमल का अगरखा छोड़कर खद्दर का कुर्त्ता पहनने को प्रेरित किया था। और आज हास्य के लिए अवकाश कहाँ ?

"कैसे हँसू ! हँसानेवाले अपने अब अपने न रहे।
सुख देने वाले वे मेरे सोने के सपने न रहे॥
रहे न वे अरमान हिये में हुलसित आज हुलास नही।
अश्रु-विभव को छोड़ हाय कुछ भी तो मेरे पास नहीं" ॥

'द्विज'।

अतः बर्नार्ड शॉ की तरह हास्य की योजना प्रसाद के नाटकों मे नहीं पाई जाती है तो कोई आश्चर्य की बात भी नहीं।

"यहाँ और एक शब्द 'कामिक' (हास्य) के बारे मे लिखना है। वह यह कि यह मनोरञ्जनी वृत्ति का विकास है। जिस जाति में स्वतंत्र

जीवन की चेष्टा है वहीं इसके सुगम उपाय और सभ्य परिहास दिखाई देते हैं; परन्तु यहाँ तो रोने से फुरसत नहीं, विनोद का समाज में नाम ही नहीं फिर उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखाई दे। अंग्रेजी (Blandess) का अनुकरण हमें नहीं रुचता, हमारी जातीयता ज्यों-ज्यों सुरुचि-सम्पन्न होगी, वैसे-वैसे इसका शुद्ध मनोरञ्जनकारी विनोदपूर्ण और व्यङ्ग का विकास होगा"।*

* जयशंकर 'प्रसाद' ('विशाख' का परिचय, प्रथम संस्करण)।

गीत-सौष्ठव

हृदय की मार्मिक अनभूतियों की संगीतात्मक अभिव्यक्ति ही गीत है। गीत हृतंत्री की मीड़ की झनकार है, मर्म की मुखरता है। और यह भीतर का मर्म तभी बोलता है जब बाहर के अवयव हार मान लेते हैं। यह स्थिति तभी आती है जब अनुभावक दारुण दुःख से भींगा होता है अथवा अनन्त आनन्द में विभोर।

गीत का मूल आधार आनन्द है। आनन्द सृष्टि के मूल में है, वह इसके सृजन का आदि प्रेरक है। मौज मे आकर ही आनन्दघन ने अपनी क्रीड़ा-भूमि—इस संसार की रचना की। नटराज के अलक्ष्य ताण्डव और नटवर की रास के मूल में इसी आनन्द का जादू है। मानव उस विराट् अनन्त आनन्द का एक लघु अंश है। उसके हृदय में भी परमानन्द बैठा है। अपने अन्तर के शिव के अनुभव मात्र से वह उछल पड़ता है। अन्तर के इस शिव के सहारे ही मनुष्य अपने जीवन के अभावों को स्वीकार करता है और इस दुःख-दर्द की दुनिया में टिका रहता है। आज भी आनन्दातिरेक में हम नाचने गाने लगते हैं।

मनुष्य उस आनन्द को पकड़ना चाहता है किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वह उसे पकड नहीं पाता, आनन्द के उस संगीत के लय में अपने हृदय का तार नहीं मिला पाता। तब वह विकल होकर क्रंदन कर उठता है। अभाव का यह दर्द भी मधुर होता है क्योंकि उसके कारण उस परमानन्द की स्निग्ध स्मृति तो ताजी रहती है। इसी लिए तो मीरा और महादेवी, कबीर और जायसी दुःख की दुनिया में

ही हृदय की बस्ती बसाना चाहते हैं क्योंकि वहीं उनके आनन्द-दाता का निवास है। और इसी लिए इस दुःख की भूमि में भी मधुर गीत की बेल उगती है। मानव-जीवन का अधिकांश इसी अभाव की वेदना में पला होता है। यही कारण है कि संसार के अधिकांश गीत वेदना के गीत हैं। इस लम्बे अवतरण का सारांश यह है कि गीत से सृष्टि का और सृष्टि के मानव का अटूट सम्बन्ध है और मानव-जीवन की भाँति गीत भी सुख और दुःख के ताने-बानों से बुना है। वह स्वयं दर्द भी है और दवा भी।

जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है, गीत मनुष्य की बाह्य सम्पत्ति न होकर अनन्तर की निधि हैं। नियन्ता ने लीला की और उस आदि क्रीड़ा से फूट कर संसार फैल गया। शकर ने ताण्डव किया और उसके डमरू से संगीत फूट पड़ा। इन अवतरणों को यदि रूपक मान लें तो यह सिद्ध हो जाता है कि भीतर का राग गीत का प्रेरक है और उसमें अन्तर की अभिव्यक्ति होती है। यह सही है कि पश्चिम वाले उसकी Subjcetivity पर जोर देते हैं और पूरब वाले उसकी Objectivity को भी ओझल होने नहीं देते।

हाँ, ताण्डव की गति में डमरू का शब्द-संगीत योग देता रहता है। गीत के क्षेत्र में यह सगीत तत्त्व भी कुछ कम महत्व नहीं रखता। संगीत के लय में ही लयमान होकर गीत अनन्त के क्षितिज को छूता है। संगीत का महत्व असीम है। मनुष्य का कौन कहे, वन्य पशु भी प्राणों का मोह छोड़ संगीत की स्वर-लहरी के बीच व्याधे के तीर को हृदय में स्थान देते हैं। गीत संगीत को प्रभावशाली बनाता है। इस संगीत के कारण ही श्रोता अथवा पाठक कवि के पीछे-पीछे अपनी स्थिति को भूल कर चलता जाता है। सचमुच गीत और संगीत में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

गीत के अभाव में संगीत निरर्थक है और संगीत के अभाव में गीत प्रभावहीन। अंग्रेजी में गीत को Lyric कहते हैं जिसका अर्थ होता है—

Adapted to the Lyre. Meaut to be sung. Now used as the name for short poems (whether or not intended to be sung) usually divided into stanzas or spophus, and directly expressing the poet's own thoughts and sentiments.

O.D.

हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध संगीज्ञ पं० ओंकार नाथ ने उस दिन कहा था कि जो कवि से छूट जाता है उसे 'स्वर' व्यक्त कर देता है।

गीतों की नाटकीय उपयोगिता के संवध में अधिक कहना नहीं है। नाटक मानवीय चेष्टाओं का क्रियात्मक प्रदर्शन है। अभिनय में नाटकीय पात्रों की बाह्य स्थूल क्रियाओं की अभिव्यक्ति तो होती ही है उनके मन की सूक्ष्म स्थितियों का व्यक्तीकरण भी होता है। और मानव-जीवन में ऐसी भी स्थिति आती है जब मनुष्य भावनाओं में इस प्रकार तन्मय रहता है, जब वह हर्ष अथवा विषाद से इस प्रकार पीड़ित रहता है कि उसकी सारी स्थूल प्रक्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं और उसकी बौद्धिक विश्लेषण की शक्ति मूक हो जाती है। गीत ही, जो भाव को आकार देने की क्षमता रखता है, उस अवस्था का सजीव चित्रण, प्राणमय प्रकाशन कर सकता है। और चित्र और काव्य की इसी सधि का नाम तो नाटक है। अतः गीतों को न रखना नाटक को उसके एक आवश्यक तत्त्व से वचित करना है क्योंकि नाटक गीत, नृत्य, काव्य और चित्र की सयुक्त कला है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर गीतों की यही उपयोगिता लक्षित होती है।

प्रसाद और उनके नाटक

"कहा जाता है कि सृष्टि के आरम्भ में देवताओं का दल ब्रह्मा के पास पहुँचा और विनती की कि महाराज ! आपने सृष्टि तो दी किन्तु मनोरंजन के अभाव में यह फीकी लगती है। तब ब्रह्मा ने और तत्त्वों के साथ ऋग्वेद का संवाद और सामवेद का संगीत (चाहे आप इसे गीत भी कह लीजिए) लेकर नाटक बनाया। देवताओं ने उसे मनोरंजन का हेतु बनाया। इस सिद्धांत को यदि रूपक मान लें तो कहेंगे कि नाटक में कथोपकथन के साथ गीत का भी प्रयोग आरम्भ से होता आया है"। ग्रीस चीन आदि देशों के नाट्य-साहित्य की परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि नाटक का आरम्भ नृत्य और गीत से ही हुआ है। वीर पूजा और वार्षिक पर्व के अवसर पर होने वाले नृत्य और गीत के साथ संवाद का योग हुआ और तब नाटक का सूत्रपात। नाटक की 'नट्' धातु से उत्पत्ति भी यह सिद्ध करती है कि नाटक के आरम्भ में नृत्य की, जिसमें संगीत और शब्द का भी योग रहा होगा प्रधानता रही होगी। तब से आज तक नाटको में गीत का व्यवहार होता रहा है। संस्कृत के अधिकांश नाटकों में गीत का प्रयोग नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ गीतों के लिए महाकाव्य वाला विस्तृत क्षेत्र अलग सुरक्षित था। गीतों का यह ऐतिहासिक महत्त्व हुआ।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी गीतों का महत्त्व कुछ कम नहीं दीखता। जिस प्रकार दर्शकों के मन और दृष्टि को विश्राम देने के लिए नाटकों को कतिपय अङ्कों में विभाजित कर विश्राम-स्थल की योजना की जाती है उसी तरह परिवर्तन-पसन्द मानव-मन को गद्यमय संभाषणों के मरुस्थल से गीत की अमराई में भी लाना पड़ता है जिसमें उसकी थकान दूर हो; नहीं तो वह ऊब उठेगा जो नाटककार की सबसे बड़ी हार होगी। चित्त-विक्षेप के लिए गीतों का आना आवश्यक है।

इसका यह अर्थ नहीं कि नाटकों में गीतों की भरमार कर दी जाय। जहाँ गीतों के उपयुक्त स्थल हों वहीं उनका उपयोग होना चाहिए अन्यथा नहीं। इतना अवश्य है कि गीतों के सर्वथा अभाव में नाटकों का प्रभाव तो कुछ नष्ट हो ही जाता है उसकी लुनाई में भी बट्टा लग जाता है।

'प्रसाद' के नाटक साहित्यिक हैं। अतः गीत उनके प्राण हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में इतिहास की विस्तीर्णता चाहे एक दोष बन गई हो, उसमें एकान्त सम्भाषण अधिक लम्बे हो गए हों, हास्य नीरस हो गया हो किन्तु उनके गीत अवश्य मनोरम हैं। 'प्रसाद' के नाटकीय पात्रों को चाहे हम भूल जाँय, उनका कथानक विस्मृत हो जाय किन्तु उनके गीतों को भूलना आसान नहीं। वे तो 'Solitary Reaper' के गीत की भाँति अनन्तकाल तक कर्णकुहरों में गूँजते रहते हैं। उनके गीत कहीं २ आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए हैं, वे कहीं २ साधारण पाठकों के लिए दुरूह हो गए हैं किन्तु पाठक इन गीतों में इतना रम जाता है कि उनकी लम्बाई का ध्यान नहीं रहता और दुरूह स्थल पर क्षण भर टिकने के बाद जब वह उस पार जाता है तब तो उसके हर्ष का ठिकाना ही नहीं रहता। वास्तव में गीत 'प्रसाद' के नाटकों की एक बड़ी विभूति है, उसका अपरिहार्य अंश है।

चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में गीतों का, जो मानवजीवन के घने क्षणों की अभिव्यक्ति हैं, जो उपयोग होता है उसके संबंध में ऊपर विवेचन हो चुका है। 'प्रसाद' के गीतों ने इस क्षेत्र में लेखक की बड़ी सहायता की है क्योंकि उनके अधिकांश पात्र भावुक तथा कोमल प्रवृत्तियों वाले हैं। गीत जैसे उनके जीवन का संबल है। उनके थके हिय-हारिल

की डाल है। भला इन गीतों की अनुपस्थिति में पद्मावती की अटारी से आने वाली 'मूर्च्छित-मूर्च्छना' को, कल्याणी के करुण प्रणय को, मन्दाकिनी की कसक को, किस प्रकार समझा जाता ! विरुद्धक की निराशा और मागधी की वासना की अभिव्यक्ति का भार बहुत कुछ इन गीतों ने उठाया है। और देवसेना ! गीत तो उसके जीवन का सब कुछ है। भला गीतों के अभाव में उस कोमल काया को खड़ा भी किया जा सकता था ! मागंधी, सुवासिनी आदि की जीविका ही संगीत है।

'प्रसाद' के गीत रस के उद्रेक एवं परिणाम की परिणति में भी सहायक हुए हैं। वस्तु और उद्देश्य की दृष्टि से 'प्रसाद के नाटकों का मुख्य रस है वीर। इस की एक ओर शृंगार और दूसरी ओर करुणा की धाराएँ भी अबाध गति से बहती रहती हैं। किन्तु कहीं २ शृंगार अथवा करुण इतना प्रबल हो जाता है कि उसकी प्रबलता के समक्ष वीर रस हार कर सिर झुका लेता है। 'स्कंदगुप्त' आदि नाटकों में यही बात हुई है। प्रधान रस का सहायक रस के सामने इस प्रकार दब जाना एक दोष है। 'प्रसाद' के गीतों ने भरसक इस दोष को दूर करने की चेष्टा की है। जहाँ कहीं भी वीर रस के उद्बोधन-गीत हैं वहाँ एक समां बँध गया है और वीरता पूर्ण वातावरण का प्राणपूर्ण निर्माण हुआ है। अनागत मूर्तिमान हो उठा है और वर्तमान तंत्री पर अनुरणित होने लगा है। रणक्षेत्र में मातृगुप्त का गाया हुआ यह गीत—

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार
जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक
व्योम-तम-पुन्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक

सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष

अलका का यह गायन—

हिमाद्रि तुङ्ग शृंङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला।
स्वतंत्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञा सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो बढ़े चलो,

तथा चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रस्थान करते समय सामन्त कुमारों के आगे आया हुआ मंदाकिनी का यह गीत—

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे शतशत झरने बेमेल चलें
संन्नाटे में हों विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे
तब भी गिरि पथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले
अपनी ज्वाला को आप पिये नव नील कंठ की छाप लिये
विश्राम शान्ति को शाप दिये, ऊपर ऊँचे सब झेल चले

—वीरता का एक समां बाँध देते हैं। कौन ऐसा पाषाण-हृदय होगा जो इन गीतों को सुनकर अपनी नसों में गर्मी का अनुभव न करता हो और कुछ समय के लिए उमंग में झूम न उठता हो। नाटक

के अवसान में रस की यह त्रिधारा शान्त रस के सरोवर में गिर कर शान्त हो जाती है। 'प्रसाद' के नाटकीय पात्रों के जीवन का सारा कोलाहल अन्त में तिरोहित हो जाता है। इसलिए प्रसाद के नाटक न सुखान्त हैं, न दुखान्त। वे हैं प्रसादान्त। प्रसाद के गीत भी प्रसादान्त ही कहे जायेंगे क्योंकि उनका आरम्भ चाहे जहाँ हो—चाहे वे शिविर के समवेत गायन हों अथवा चंचला के व्यावसायिक गीत, चाहे वे थके हुए की निराशा से उत्पन्न हों अथवा किशोरी की प्रणय-पिपासा से उत्प्रेरित हों—किन्तु सब का पर्यवसान शान्त लोक में ही होता है। इस प्रकार 'प्रसाद' के गीत रस के उद्रेक एवं परिणाम की परिणति में भी सहायक हुए हैं।

हाँ यत्र-तत्र 'प्रसाद' के कवि-हृदय की, जिस पर पारसी नाटकों से प्रभावित तत्कालीन वातावरण का प्रभाव पड़ा था, गान-प्रियता अतिरेक को भी छू गयी है। प्रसादीय नाटकों के लम्बे गीत इसके साक्षी हैं। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में पहाड़ की तराई में मनसा और उसकी दो सखियों के गाये हुए गीत को, 'स्कदगुप्त' में मातृगुप्त के गाये हुए गीत को तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में समान्त कुमारों के आगे गाये हुए मंदाकिनी के गीत को कुछ छोटा कर दिया जाता तो रंगमंच के लिए वे अधिक उपयुक्त होते। फिर भी इन गीतों के पक्ष में एक बात कही जा सकती है। ये तीनो लम्बे गीत वीर रस से सम्बन्ध रखने वाले हैं और प्रसाद के सभी नाटकों का प्रमुख रस वीर है। युद्ध की सम्यक योजना के अभाव तथा पात्रों की दार्शनिकता एवं रंगीनी के कारण वीर रस वांछित रूप मे निखर नहीं पाता। पाठक या दर्शक उत्साहवर्द्धक दृश्यों के लिए आँख पसारे रहते हैं। अतः जब वीररस के गठे गीत गाये जाते हैं तो तो पाठक या दर्शक मनोवांछित वस्तु पाकर उत्सुक कानों से सुनने

लगते हैं। उनकी सुदीर्घ प्रतीक्षा विराम-स्थल पाकर थकान मिटाने लगती है और इस बात का पता नहीं चलता कि ये गीत कब समाप्त हो गए। वास्तव में इतने सुन्दर हैं ये गीत और गुलामी की बेड़ी में कसमस करने वालों को इतने अच्छे लगते हैं ये। फिर भी गौतम जैसे अवतारी व्यक्ति का रगमच पर गाना कुछ अच्छा नहीं लगता। उसी तरह 'चन्द्रगुप्त' में लगभग सभी स्त्री-पात्रों का गीत-प्रिय होना, देवसेना और मागंधी का सात सात बार गाना तथा नेपथ्य से दीर्घ गीतों का श्रुतिगोचर होना भी उचित नहीं जान पड़ता। बात यह है कि 'प्रसाद' पहले कवि है तब नाटककार। स्वभावतः यौवन की मादक तसबीर आंकते समय, अतीत स्मृतियों की भाव-उर्मियाँ उठाते समय, सूक्ष्म दार्शनिकता का विस्फूर्जन करते समय प्रसाद का कवि सजग हो उठता है और कल्पना-शृंग से कविता का निर्झर फूट ही पड़ता है।

यह कहा जाता है कि 'प्रसाद' के गीतों का संबंध उनके पात्रों से और उनकी तत्कालीन परिस्थिति से नहीं है। कुछेक महानुभावों का तो यहाँ तक कहना है, कि 'प्रसाद' जी पहले ही गीत बना लेते थे और नाटक लिखते समय अपने पुराने स्टाक से गीत लेकर रख देते थे। मुझे यह बात नहीं जँचती। शायद एकाध जगह ऐसी बात हुई हो। हाँ, उन गीतों में भावों का ऐसा विशदीकरण है, लाक्षणिकता का ऐसा प्रयोग है कि वे स्वतंत्र-से लगाते हैं किन्तु यदि शुष्क उपयोगितावाद का ध्यान रख कर 'प्रसाद' ने गीतों का गठबधन पात्रों से किया होता तो क्या गीतों को यह रूप मिल सकता था? क्या वे बँधे गीत गीत हो सकते थे जिनमें बंधन जुर्म है? ऐसा करने से क्या 'प्रसाद' 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में अश्व के साथ आर्य-सैनिकों के गाये हुए गीत से ऊपर उठ

सकते थे ?' 'प्रसाद' के गीतों की यही तो विशेषता है कि कथा में पिरोये हुए होने पर भी उनकी कलात्मकता, उनके गीत-तत्त्व को आँच नहीं आता। शायद 'प्रसाद' के नाटकों में कोई भी ऐसा गीत नहीं है जो पात्र या परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल (मैं उपयोगिता की बात नहीं करता) न हो। 'सज्जन' के गीत तो भारतेन्दु स्कूल की सरणी में आते हैं और ब्रजभाषा के प्रगाढ़ रंग में रँगे हुए हैं। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' के गीत भी वस्तु के परकोटे मे सिमट कर बैठे हैं। कहीं २ तो उनमें स्थूल वस्तुवाद का मोह दीखता है। 'राज्यश्री' के गीत भी छोटे-छोटे, संयम के साथ लिखे हैं और हैं स्पष्ट। अतः उनके संबंध में तो पूर्व धारणाएँ बँध ही नहीं सकतीं। 'विशाख' के गीतों से ही प्रसाद के गहन काव्यचिंतन और अनुभूतिपूर्ण दार्शनिकता के दर्शन होने लगते हैं। अतः यहीं से हम देखेंगे कि ये गीत पात्रों और परिस्थितियों के लिए कहाँ तक उपयुक्त हैं। 'विशाख' अभी-अभी गुरुकुल से आया है। आज पहली बार उसकी आँखों ने दुनिया में नई जमातें देखी हैं। जब से शैशव से उसका साथ छूटा तब से 'केवल असंतोष, अतृप्ति—अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला बना डाला। इन विहङ्गमों का कलरव मन को शान्त होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता'। थक कर शिलाखण्ड पर बैठ जाता है। अतीत की सुखद स्मृतियाँ उभड़ आती हैं। शैशव के वे भी क्या दिन थे जब—

प्रशान्त सागर के समान यह हृदय शान्त था। इसमें अरुण अभिलाषाओं की तरंगे न थीं। उस समय वह जो आज अतीत बन गया है नये कमल की भाँति वर्तमान बन कर खिला था—सौरभ और सुगंध के साथ। उस कमल के शतदल से दया, सहायता और सहानुभूति का पराग झड़ता था। सभी लोग मानो विशाख से सहानुभूति

रखते थे। जिस प्रकार बन देवता को समस्त विश्व की वनराजि प्रिय है उसी प्रकार विशाख के हृदय में बैठी सौष्ठव-प्रियता समग्र संसार को आदर की दृष्टि से देखती है। विशाख को सारी वसुन्धरा सुन्दर दीखती। उसके लिए अशोभन कुछ था ही नहीं। कल्पना की कोयल आनन्द में मस्त हो मंगलमय गीत गाती। विशाख हर्षमय भविष्य की कल्पनाएँ करता रहता। विशाख के मन मे सुखद याद की भीड़ लगी थी। जान पड़ता था कि उसके हृदय-उद्यान में असंख्य जन्मों की हर्षमयी स्मृतियों के फूल खिले हैं। वह कौन है, कहाँ आया है, उसके जीवन का प्रयोजन क्या है आदि प्रश्न उसके हृदय में उठते ही न थे। अबोध (!) विशाख को तब यह ज्ञात न था कि वह सांसारिक प्राणी है, वह कर्म की कठोर भूमि मे खड़ा है और उसे असंख्य यातनाओं को ठेल कर आगे बढ़ना है। वह तो केवल अनन्त आनन्द में बदमस्त था। किन्तु अब तो वह सब एक पुरानी कहानी हो गई है। सब कुछ अतीत बन कर अदृश्य हो गया। काल के अंधकार ने सब पर पर्दा डाल दिया। अब तो दुःख और कोलाहल पूर्ण वर्तमान की संध्या की कालिमा ही अवशिष्ट रह गई है। न तो मादक वर्तमान की लालिमा है और न आशापूर्ण भविष्य की श्वेतिमा जहाँ विशाख का चंचल चित्त क्षण भर के लिए दम ले। वह संघर्षमय वर्तमान और अनिश्चित भविष्य के बीच में डोल रहा है। येही भाव विशाख के इस गीत में उतर आये हैं।

वरुणालय चित्त श्रांत था,
अरुणा थी पहली नई उषा;
तरुणाब्ज अतीत था खिला,
करुणा की मकरन्द वृष्टि थी;

सुखमा बनदेवता बनी—
करती आदर थी सुविश्व की,
कलकोकिल कल्पनावली,
मुद में मङ्गल गान गा रही,
स्मृतियाँ सब जन्म जन्म की—
खिलती थी सुमनवली बनी;
हम कौन ? कहाँ ? न ज्ञात था,
सुख में केवल व्यस्त चित्त था।
वह बीत गया अतीत था,
तम संध्या उसको छिपा गई;
सुभविष्य न वर्तमान है—
किसको चञ्चल चित्त सौंप दूँ॥

[विशाखः प्रथम संस्करण]

क्या इस गीत को हम पात्र और परिस्थिति के प्रतिकूल कहेंगे ? क्या इसमें विशाख का मन, उसके जीवन का समस्त इतिहास और उसकी परिस्थितियाँ एक खुले पृष्ठ की तरह स्पष्ट नहीं हो गए हैं ? इसी तरह नरदेव के तथाकथित उलझे हुए गीत में भी उसका समस्त व्यक्तित्व पीन होकर बोल उठा है। चन्द्रलेखा के स्नेहपूर्ण उपचार-सलिल में उसकी प्रमाद-ज्वाला पूर्णतया बुझ गई। गर्हित कर्मों के ढेर पर खड़ा नरदेव अपने लो जीवन की व्यर्थता देख रहा है। वह स्वयं अपनी आँखों मे गिर गया है। ग्लानि और पश्चाताप से शिथिल नरदेव में इतना उत्साह भी नहीं बच गया है कि वह लौटकर सुकर्मों की कड़ियाँ जोडे। वे जघन्य पाप क्या मिट सकते हैं ? वह अपने सभी कर्मों को स्वीकार करते

हुए प्रभु के चरणों में सिर टेक देता है। उसके लिए और जगह नहीं।

उसने अपना जीवन व्यर्थ बिता दिया। इसलिए उसका हृदय निरन्तर रोता रहता है। उसके हृदय का हाहाकार कभी तीव्र होता है और कभी मन्द किन्तु रुदन का क्रम कभी रुकता नहीं। वह चन्द्र, सूर्य से शान्ति थी भीख मांगता है। किन्तु उसे संतोष नहीं होता। चन्द्रमा शान्त और अचञ्चल तो है किन्तु उसमें मानव जैसा स्पन्दित हृदय तो नहीं, उसमें कोमल भावनायें तो नही हैं। अतः उसकी निर्मलता भावनाओं से युक्त हृदय वाले मानव को आकर्षित नहीं कर पाती। और हाँ चन्द्रदेव तो स्वय नियति की डोर मे बँधकर सासरिक कष्टों के भागी बनते हैं। कभी २ वे भी तो दुर्बल मानवों की तरह बादलों मे छिप कर श्रोहन हो जाते हैं। नरदेव शान्ति के लिए इन देवी-देवताओं के सामने हाथ पसारता है किन्तु उनकी दुर्बलताओं को देख कर लौट आता है। उसका निस्तार तो बस जगन्नियंता अनन्त भगवान् ही कर सकते हैं जो अपने को सभी रूपों में रख कर भी सबकी कमजोरियों से परे हैं। इसीलिए उस प्रभु से उसकी प्रार्थना है कि प्रभो! तुम आओ। तुम्हारे स्पर्श से ही हृदय का कलुष धुलेगा और उसमें सत्य बैठेगा। मैंने कुकर्म के बीज बोये हैं। यह सही है। किन्तु उसके कारण अब मैं कितना लज्जित हूँ! मेरी स्वीकृति क्षमा की हक़दार है। प्रभो! तुम से क्या छिपाना है? तुम तो अन्तर्यामी हो। तुमने तो मेरा सब कुछ देखा है। किन्तु केवल तुम्हीं देख पाये क्योंकि अज्ञान के पर्दे मे आवृत होने के कारण मैं उन पापों को उनके असली में देख नहीं पाया, उन्हे पहिचान नहीं सका। अनजान मे किये गये मेरे उन अतीत के पापों को भूल जाओ और मुझे अपने चरणों मे स्थान दो।

हृदय के कोने कोने से।
स्वर उठता है कोमल मध्यम, कभी तीव्र होकर भी पञ्चम,
मन के रोने से।
इन्दु स्तब्ध होकर अविचल है; भाव नहीं, कुछ वह निर्मल है,
हृदय न होने से।
उसे देख सन्तोष न होता, वह मेघों में छिपकर सोता,
तेजस खोने से।
तुम आओ तब अच्छा होगा, हृदय भाव कुछ सच्चा होगा,
तेरे टोने से।
किन्तु हुआ अब लज्जित हूँ मैं, कर्म फलों से सज्जित हूँ मैं,
उनके बोने से।
आवृत हो अतीत सब मेरा, तूने देखा सब कुछ मेरा,
पर्दा होने से॥
हृदय के कोने कोने से॥

'अजातशत्रु' में गाये हुए पद्मावती के गीत में उपेक्षिता पद्मावती के वेदना-विह्वल हृदय की विकल तसवीर है। वीणा लेकर आकुल मन को भुलावा देने के लिए बैठ तो गई किन्तु 'जब भीतर की तंत्री बेकल है तब यह बजे कैसे! तारों के साथ अगुलियों के प्रथम स्पर्श पर ही जैसे उसकी आकुलता सीमा का अतिक्रमण कर जायगी—हृदय का सारा अवसाद सिमटकर जैसे स्वर-लहरी के प्रकंपन में फूट जायगा और नारी की साधना को क्षत-विक्षत कर देगा। इसीलिए तो निष्ठुर अंगुलियों से आग्रह है कि वे दया करके पल भर रुक जाँय और मीड़ खींच कर तारों में गमक की गति (आरोह-अवरोह) न आने दें अन्यथा संगीत की स्वर-संधि की जगह अस्तव्यत (मूर्च्छित) प्रकं-

पित उच्छ्वास के रूप में व्यथित हृदय की निरर्थक आह ही निकलेगी। सारा संगीत इस दारुण उच्छ्वास से सिहर उठेगा।

पद्मावती की कोमल काया, उसके विश्वासपूर्ण व्यक्तित्व पर ऐसा कठोर चौमुख प्रहार हुआ है कि वह सब ओर से उदास होकर अपने ही मे घुलमिल कर लीन हो जाना चाहती है। एकाकीपन की नीरवता ही उसके पीड़ित हृदय को शान्ति देती है। वीणा की झनकार उस नीरवता को क्षुब्ध बना डालेगी उसकी नीरव शान्ति जैसे बिखर जायगी। इसीलिए उँगलियों से अनुरोध है कि वे वीणा के मूक तारों को छेड़कर अन्तर के सुप्त संगीत को मुखरित करें हीं नहीं। निर्वाक संगीत की मूक लहर शून्य में विलीन हो जाय, यही उसकी आकांक्षा है। और यदि उँगलियों ने उसके अनुनय को अस्वीकार कर दिया तो नारी हृदय की करुणापूर्ण लज्जा संगीत के स्वर मे व्यक्त हो उठेगी। लज्जा के आवरण के फट जाने से वेदना का ज्वार दबाये न दबेगा। और जब वीणा के परदे से स्वर की उर्मियाँ उठने लगेंगी तो तारों के कम्पन की ओट में हृदय की सारी आकुलता बेपरदा होकर नाच उठेगी और तब संवेदनशील हृदय को कष्ट होगा।

मीड़ मत खींचे वीणके तार !
निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
पल भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्च्छित मूर्च्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।
छेड़-छेड़ कर मूक तन्त्र को,
विचलित कर मधु मौन मंत्र को
बिखरा दे मत, शून्य पवन मे
लय हो स्वर-संसार।

मसल उठेंगी सकरुण व्रीड़ा
किसी हृदय को होगी पीड़ा,
नृत्य करेगी नग्न विकलता,
परदे के उस पार।

प्रस्तुत गीत में वासवी की छाया में पली सहिष्णु और सदाचारिणी, गौतम के उपदेशों की करुणा से भींगी तथा प्रिय के अकारण आक्षेपों से उद्वेलित पद्मावती का स्वर कोई भी पहिचान लेगा।

श्यामा का गीत भी उसकी परिस्थितियों से कम सम्बन्ध नहीं रखता। शैलेन्द्र श्यामा के स्नेह में इतना अभिभूत हो गया है कि उसकी सारी उद्धत्त प्रवृत्तियाँ शिथिल पड़ती जा रही हैं। श्यामा के 'आलसपूर्ण सौंदर्य' ने 'हिंस्र पशु को पालतु बना लिया' है। साहसिक शैलेन्द्र के लिए भी श्यामा एक अनबूझ पहेली बन बैठी है। इसीलिए वह पूछता है—'तुम क्या हो सुन्दरी!' इधर फूल की तरह आने और परिमल की तरह चली जाने का दावा करने वाली श्यामा का प्रताड़ित हृदय भी शैलेन्द्र के स्नेह में करुण हो उठा है। वह गीले लोचनों को उठा कर अपना परिचय देती है—

इस निर्जन निविड़ प्रदेश के बीच संध्या की एकाकी बेला में कुटिया के उन्मुख द्वार पर आशा का दीप जलाये तुम मानों विश्वास पूर्ण निर्निमेष दृष्टि से किसी आगंतुक की राह देख रहे थे—उस पथिक की जिसे तुम्हारे ही सदृश जीवन के विनिमय में धोखा और प्रवंचना मिली हो, जो तुम्हारे ही समान सबसे ठुकराया गया हो। (निर्वासित कुमार को उपेक्षित सहचरी की आवश्यकता थी)। तुम्हारे हृदय के रंगमंत्र पर भावनाओं का अभिनय हो रहा था और तुम्हारी पलकें यवनिका के रूप में झुक कर उन्हें छिपाने का विफल प्रयास

कर रही थीं। तभी हृदय में प्रेम का उपहार और नयनों में करुणा का अर्घ्य लिए मैं तुम्हारे पास आई। फिर भी परिचय पूछ रहे हो ! शैलेन्द्र, विश्व के किसी अन्य व्यक्ति के सामने दिल के काँटे न खोलूँगी। यह संसार अति विस्तृत है। कौन किसकी सुनता है ? सभी अपनी २ राह जा रहे हैं। किन्तु आह ! तुम मेरे हृदय को क्यों नहीं समझते ? हम दो निरीह प्राणी एक दूसरे के पूरक हैं, एक ही परिस्थिति के दो पक्ष हैं। देखो, हृदय में अभाव का हाहाकार और साँसों में अतृप्ति की ज्वाला है। ठहरो, अपने दामन की छाया में जी भर कर मुझे रो लेने दो जिसमें आँखों की ज्वाला बह जाय और जी की जलन कुछ शांत हो जाय। शैलेन्द्र, दो घड़ी के लिए भी तुम अपने स्नेहमय हृदय के शीतल कोने में मुझे एकान्त स्थान दो। वहीं मेरी सारी विकल वेदना निश्चेष्ट होकर सहज ही सो जायगी, शांत हो जायगी और मेरे हृदय को अपार आनन्द मिलेगा। सहचर, समय भागता जा रहा है। नीले आकाश में अंधकार छाता जा रहा है। वीणा के तार ढीले पड़ गए हैं। मैं व्यग्र हो उठी हूँ। प्रेम के सारे हाव-भाव, सारी विलास-चेष्टाएँ भूल गयी हूँ। उनके लिए अब यथेष्ट समय भी नहीं है। अब तो रात की तरह अंधकार में लीन हो जाना है। और तब विवश अश्रु की लड़ियाँ ही मेरा परिचय देंगी, अपनी बूँदों से मेरे जीवन का इतिहास लिखेंगी।

निर्जन गोधूलि प्रान्तर में खोले पर्णकुटी के द्वार,
दीप जलाये बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटमारों से ठगे हुए की ठुकराये की लाखों से,
किसी पथिक की राह देखते अलस अकम्पित आँखोंसे—
पलकें झुकी यवनिका-सी थी अन्तस्थल के अभिनय में,
इधर वेदना श्रम-सीकर आँसू की बूँदे परिचय में।

फिर भी परिचय पूछ रहे हो, विपुल विश्व में किसको दूँ ?
चिनगारी श्वासों में उड़ती रो लूँ, ठहरो दम ले लूँ।
निर्जन कर दो क्षण भर कोने में, उस शीतल कोने में,
यह विश्राम सम्हल जायेगा सहज व्यथा के सोने में।
बीती बेला, नील-गगन, तम, छिन्न विपञ्ची, भूला प्यार,
क्षपा-सदृश छिपना है फिर तो परिचय देंगे आँसू-हार ॥

इस गीत में शैलेन्द्र और श्यामा दोनों का कैसा विश्वस्त परिचय है। अपमान का बदला लेने के लिए विरुद्धक शैलेन्द्र बनकर बीहड़ पथ पर आ खड़ा है। इस डगर पर वह अकेला है। यह उसके जीवन की गोधूलि है। किन्तु आशा और आत्मनिर्भरता अब भी उसके पहरेदार हैं। (अजातशत्रु और विरुद्धक में यही तो अन्तर है)। यद्यपि सैनिक विरुद्धक आज साहसिक बन गया है और अपमान की तितिक्षा ने उसकी गति एक निश्चित पथ की ओर मोड़ दी है किन्तु उसकी रूप की प्यास, जिसे मल्लिका ने जगाई थी, अब भी मिटी नहीं है। हृदय में अन्तर्द्वन्दों की आँधी चलती रहती है। इधर श्यामा के जीवन ने भी करवटें बदली हैं। इसीलिए इस गीत में श्यामा के हृदय की तीव्रता से अधिक उसकी करुण-विह्वल विवशता प्रकट हुई है। षड्यंत्र में असफल हो कौशाम्बी से भाग कर काशी की वारविलासिनी बनी। कामिनी को यहाँ कंचन तो मिला किन्तु तृप्ति नहीं। प्रेम का वाणिज्य करने वालों की भीड़ तो लगी रहती है किन्तु उसे लगता है कि सभी बेगाने हैं। उसे एकांत आधिपत्य चाहिए। इसी का अभाव उसे जीवन भर खलता रहा है। इसीलिए वह गहन वन में शैलेन्द्र के पास आयी है और उससे विनती करती है कि दो क्षण के लिए अपने हृदय में एकान्त रूप से मुझे स्थान दो। विलास चेष्टाओं में अब उसकी

आस्था रह गई है। शैलेन्द्र के हृदय में मुँह छिपाकर सो जाना चाहती है। इस गीत की लाक्षणिकता पर हम अन्यत्र विचार करेंगे।

बिम्बसार के कुटीर में नेपथ्य से जो गीत गाया गया है उसमें भी हम उस जर्जरनृप के भावुक व्यक्तित्व, अनुभव, अनुभूतिपूर्ण दार्शनिकता का ऋजु प्रकाशन पायेंगे जिसने संसार के सुख को मरु की मरीचिका, गंधर्व लोक के प्रकाश के रूप में देखा है। 'आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों में लिखे ए अदृष्ट के लेख जब धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन-संग्राम मे प्रवृत्त होकर अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अन्धकार की गुफा में ले जाकर उसका शान्तिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का यत्न करती है'। जीवन की सुदीर्घ अवधि में उसने यही तो देखा है।

मधुमास की कोमल-मधुर संध्या में दक्षिण का जो अलस पवन आता है उसमें बड़ी मस्ती, बड़ी सुगंध होती है, मानो वह बसन्त कुमारी के सुरभित झीने अंचल से छन-छन कर बह रहा हो। किन्तु इसका अन्तर कितना निष्ठुर होता है, उसका प्रभाव कितना घातक! उषा के उस लाल तट पर अर्थात् संध्या की लालिमा में भौंरों के गुञ्जार के साथ हवा की लहरे आती तो हैं किन्तु पवन यह प्रलोभन देकर कि पत्तियों के सूखने पर डालियों में फूल खिलेंगे पत्ती-पत्ती का रस भी चूस लेता है। बेचारी निरीह पत्तियाँ इस लोभ के वात्याचक्र में पड़कर रस-दान करती है और स्वयं रसहीन होकर पीली पड़ जाती हैं। (वायु के कारण बसन्त में पत्ते पीले पड़ जाते हैं)। जो पत्तियाँ अभी अंचल में फूल छिपाये हरी डालियों पर बैठ अठखेलियाँ कर रही थीं, जो वनदेवी की चादर की सजावट के उपकरण बन रही थी उन्हे इस

वंचक पवन ने तरह-तरह की आशाएँ दीं, हृदय का हार बनाया, झूले में हौले हौले झुलाया, संयोग पा बहकावे भी दिये। सरल पत्तियों का हृदय स्पर्श से पुलकित हो उठा। उन्होंने किसी की नेक न सुनी, किसी के रोकने से न रुकीं और अपने को पवन के चरणों पर डाल दिया, झड़ गयीं। और तब पवन! वह उन्हे झकझोर कर बिखेर देता है। इस प्रकार बसन्त की बर्छी (समीर) से घायल होकर पत्तियाँ कुम्हलाकर सूख जाती हैं और क्षण भर तड़प कर डाल से चू पड़ती हैं। यही है उस पवन की सुरभि के संयोग का अन्तिम परिणाम! लोग कहेंगे, इसी विनाश मे तो नवीन किसलयों का निर्माण छिपा है। निर्मम हत्या के आधार पर खड़ी नियति की यह सृष्टि कितनी निरर्थक है! बसन्त के वाण से विद्ध हो अपने पिछले जीवन से बहुत दूर निष्प्राण पड़े पत्ते क्या इन फूलों की खिलखिलाहट देख पायेंगे? फिर यह सृष्टि की कैसी विडम्बना है। इन सूखे पत्तो के रेशे-रेशे में नियति की निष्ठुरता की अमिट कहानी लिखी है। वायु! अब तुम उन पत्तों के मृत्त शरीर के चारों ओर घूमेगी मानों तुम उन्हीं की गर्म आह हो। (बसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आती है और पवन मे उष्णता भर आती है)।

चल बसन्त बाला अञ्चल से किस घातक सौरभ में मस्त,
आती मलयानिल की लहरें जब दिन कर होता है अस्त।
मधुकर से कर संधि, विचर कर उषा नदी के तट उस पार,
चूसा रस पत्तों-पत्तों से, फूलों का दे लोभ अपार।
लगे रहे जो अभी डाल से बने आवरण फूलों के,
अवयव थे शृङ्गार रहे जो वनबाला के झूलों के।
आशा देकर गले लगाया रुके न वे फिर रोके से,
उन्हे हिलाया बहकाया भी किधर उठाये झोंके से।

कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे फिर गिरे अलग हो वृन्तों से,
वे निरीह मर्म्माहत होकर कुसुमाकर के कुन्तों से,
नवपल्लव का सृजन ! तुच्छ है किया वात से वध जब क्रूर,
कौन फूल सा हँसना देखे ! वे अतीत से भी जब दूर।
लिखा हुआ उनकी नस-नस में उस निर्दयता का इतिहास,
तू अब 'आह' बनी घूमेगी उनके अवशेषों के पास।

'स्कंदगुप्त' में मातृगुप्त ने जो गीत गाया है उसमें भी उसका जीवन, मालिनी की कहानी और उसका तत्व-चिंतन सभी उतर आए हैं। काश्मीर की वह रम्यभूमि जहाँ उसने जन्म लिया, जिसकी धूलि में लोट कर बड़ा हुआ, जिसमें जीवन के परमाणु सुसंगठित हुए, वही छूट गई। और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न। ओह! वही जो उसके इस जीवन-पथ का पाथेय रहा। किन्तु भावना में तल्लीन कवि काश्मीर की घटनाओं को बचपन की नादानी कह कर टाल देना अपनी नादानी समझता है। इसलिए वह मालिनी के करों में इस गीत को अर्पित करते हुए कहता है—

'प्रिय ! हम लोगों के लघु जीवन की परिधि में जो संसार की मधुमयी घड़ियाँ आयी थीं उन्हे योंही विस्मृत न कर देना। प्रणय के वे क्षण भूलने-भुलाने की वस्तु नहीं। यह कहकर कि वह तो बचपन की नादानी थी, अपरिपक्व मन की बहक थी अपने मन की मनुहार न करना। जिन्दगी के वे भी क्या दिन थे जब आनन्द-विभोर हृदय से मस्ती में सनी मुसकान की तरल तरंगे श्वासों के सहारे उठ-उठ कर अधर के कटोरे में आकर चतुर्दिक छलक पड़ती थीं। मैं प्रेम के आलिङ्गन में आबद्ध उसी प्रकार अधीर विलास का कंपन लिए रहता जिस प्रकार कमल में बन्द भ्रमर। सुख की कैसी अपार राशि के बीच हम थे।

पल-पल पर स्मित के सुधा-कण अधरों को सिक्त कर जाते। अधरों का प्याला छलक उठता और कपोलों पर लाली दौड़ जाती। जिस प्रकार वृहत् पात्र स्थित तरल पदार्थ को हम लघु पात्र की नाप से तौलते हैं उसी तरह हृदय की आनन्द-राशि को अपने में भर-भर कर यह प्याला उसे बिखेर देता था, मानों यह भी उस राशि की मात्रा को तौलने का यत्न कर रहा हो। आज वह सोयी हुई सौंदर्यासक्ति जग पड़ी है। आंखें मिलने के लिए व्याकुल हो उठती हैं किन्तु तुम्हारे अभाव में लहर का तार टूट-टूट पड़ता है। मैं व्यग्र हो उठता हूँ, छटपटाने लगता हूँ। कहाँ तो ऐसे अवसर पर तुम्हारे नखदान का उपहार मिलता था और कहाँ आज हमारे ही नख हमारी छाती नोचने लगते हैं। तुम्हारे नखों के चिन्ह आज भी मणियों के समान मेरे वक्षस्थल पर गुँथे हैं। किन्तु वे बातें अब स्वप्न बन गईं हैं। काया की नौका जीवन-सरिता की कठोर धारा पर दूर निकल आयी है और वह प्रसंग उस कठोर जीवन के उस दूर किनारे पर (जहाँ हम लोग किल्लोल किया करते थे) खड़ा हमारी बेबसी पर अट्टहास कर रहा है। मैं स्तम्भित हूँ—भौंचक। मुझे याद है, हम लोग किस प्रकार एक दूसरे के निकट आकर अपनी व्यष्टियों को भूल गए थे। खेल के बहाने तुम जान-बूझकर निठुर बन जाती। इस निठुर ढिठाई में तुम्हे सुख मिलता था और हमें भी। क्रमशः ऐसा जान पड़ने लगा मानों हम लोग युग-युग के साथी हैं, जाने-पहिचाने। हम लोगों की राह एक ही है। सुख के वे मधुर क्षण! प्रिय! भूले-भटके भी प्रेम सागर के क्षितिज को छूने वाले मिलन रूपी तट पर कभी आ जाना जिसमें एक बार फिर जीवन मे मधुर तरंगे उठने लगें'।

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण योंही भूल नहीं जाना
'वह उच्छृङ्खलता थी अपनी'—कह कर मन मत बहलाना

मादकता-सी तरल हँसी के प्याले मे उठती लहरी
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी
मैं व्याकुल परिरंभ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा
सजग सुप्त सौदर्य हुआ, हो चपल चली भौंहे मिलने
लीन हो गई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से, ग्रथित रहा
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से
सुखी हुए, फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से
उस सुख का आलिङ्गन करने कभी भूल कर आ जाना
मिलन क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना

इसी तरह देवसेना ने पृ० ४५ और १६५ में जो दो गीत गाये हैं उनमें उसके जीवन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध साफ अलग-अलग दीखते हैं। स्कंदगुप्त के रूप गुण की प्रसिद्धि है। वे बन्धुवर्म्मा के गाढ़े दिनों में उसकी सहायता कर रहे हैं। बन्धुवर्म्मा की बहन देवसेना का युवराज के प्रति अनायास आकर्षण हो जाता है। उसका रूप देवसेना के नयन और मन में बस जाता है। किन्तु अभी तक युवराज को जी भर कर देखने का अवसर देवसेना को नहीं मिला है। अतः प्रिय का वह अनूठा रूप छलिया बन कर भागता रहता है। देवसेना जल, थल, आकाश में सर्वत्र प्रियतम की ही तसवीर देखती है। किन्तु वह रूप पकड़ में नहीं आता और देवसेना प्रमत्त प्रेम में डूब कर स्वय बेसुध हो जाती है। प्रेम के अनुभव मे कितनी बेसुधी होती है! मानो प्रेम के कूप मे केवल भाँग घुली हो। प्रणय के

रव से उसकी हृत्तंत्री झंकृत हो गई है और उसे जान पड़ता है कि उसका प्रियतम बगल में कान साधे बैठा है। भला उस प्रियतम को छोड़ कर कौन हो सकता है जो धूप-छाँह की भाँति सदा उसके साथ लगा रहे। वह अपने प्राणों के उस मालिक पर बलि-बलि जाती है।

भरा नैनों में मन में रूप
किसी छलिया का अमल अनूप
जल-थल, मारुत, व्योम में, जो छाया है सब ओर
खोज-खोज कर खो गई मैं, पागल--प्रेम--विभोर
भाँग से भरा हुआ यह कूप
भरा नयनों में मन में रूप

इसके बाद ही देवसेना और स्कंदगुप्त के बीच में उपस्थित हो विजया उसके प्रणय-स्रोत के प्रवाह को कुंठित कर देती है। देवसेना को सन्देह है कि विजया का स्कंदगुप्त पर अधिकार है और इस अधिकार से वह उसे वंचित न करेगी क्योंकि प्रेम ही नारी का सब कुछ है। इस भ्रम मे पड़ कर वह अपनी बाजी खो देती है। हृदय पुकार मचाता है और देवसेना उसे मनाती है।

'आज जीवन के सुखो से बिदा माँगती हूँ। संसार ने वेदना की विदाई दी और मैंने जीवन भर की इकट्ठी की हुई भीख (स्कंदगुप्त का प्रेम) भ्रम में पड़ कर लुटा दी।

'एक समय था जब दिन भर खेल कर साँझ की धूमिल बेला में पसीने की स्वास्थ्यकर बूँदों से तर होकर लौटती थी। उस समय पसीने की बूँदे उसी प्रकार गिरती थीं जिस प्रकार आज हर घड़ी अश्रु की बूँदे गिरती रहती हैं। मेरे जीवन की उस शान्तिपूर्ण गति के समक्ष अनन्त नीरवता भी झेप जाती थी।

'चिंताहीन श्रम के कारण घनी नींद आती और मैं मनोहर सपने देखती। जिस प्रकार दूर देश का पथिक क्षण भर के लिए घने जंगल के छायादार वृक्ष के नीचे सोकर सुखद सपने देखने लगता है उसी प्रकार मेरा प्राण-पथिक भी इस विश्व-वन के कैशोर-वृक्ष की छाँह में सुख से सो रहा था। उसी समय जाने मेरे कानों में किसने बिहाग की तान भर दी कि मेरा रोम-रोम सिहर उठा। किसी अनजान वस्तु का वियोग खलने लगा। हृदय में कुछ अस्फुट भाव-लहरियाँ उठीं और धीरे धीरे सुस्पष्ट होकर जीवन की निधि बन गईं।

'तब सब की ललचाई आँखें हम पर लगी थीं। सब की जिज्ञासा उस दिन की बाट जोह रही थी जब मैं किसी के चरणों में प्यार की डाली रखती। मैं हृदय की इस निधि को सब की आँखों से बचाकर अछूती रखती आयी। आह! मैंने कौन-कौन सी आशाएँ बाँध रक्खी थीं! हाय री पगली, तूने जीवन की सारी कमाई योंही खोदी।

'और आज तो प्रलयकालीन दृश्य उपस्थित हैं। प्रलयंकर प्रभंजन अपने ढग से बह रहा है और मैं दुर्बल हाथों से अपने जीवन की गाड़ी ठेलती जा रही हूँ। इस द्वंद्व में मेरी हार निश्चित है। यह हारी हुई बाजी है।

'न न, मैं काया का भार ढो न सकूँगी। ससार! अपनी धरोहर—मिट्टी की यह देह वापस लो। मेरी वेदना हाहाकार कर रही है। अब तो जान पर बन आई। यह सँभाले नहीं सँभलती। लाज का आवरण फटा ही चाहता है।· साधना वाचाल होना चाहती है। अच्छा है कि इसके पहले मैं ही जीवन की गठरी पटक कर दूर निकल जाऊँ'।

आह! वेदना मिली बिदाई
मैंने भ्रम-वश जीवन सञ्चित
मधुकरियों की भीख लुटाई

छल छल थे संध्या के श्रमकण
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में
गहन-विपिन की तरु छाया में
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह बिहाग की तान उठाई
लगी सतृष्ण दीठ थी सब की
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह! बावली
तूने खो दी सकल कमाई
चढ़ कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी—होड़ लगाई
लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा-हा खाती
विश्व! न सँभलेगी यह मुझ से
इसने मन की लाज गँवाई

क्या देवसेना को छोड़ कर यह गीत किसी और के लिए उपयुक्त होता?

'चन्द्रगुप्त' नाटक के १३वे पृष्ठ पर लिखे हुए, सुवासिनी के उस गीत को देखें जहाँ वह अपनी आह को लक्ष्य करके कह रही है—

'मेरी प्रिय वेदना, तू बड़ी कोमल है, सुकुमार अवयवों की बनी हुई। तू बाहर न झाँक। लोग हमारी दुर्बलता पर हँसेंगे और तब तू हँसी की कठोर ठढक में ठिठुर जायगी क्योंकि साधना में अविचल रहने का गौरव, जिसके कारण तू अब भी फूली रहती है; विनष्ट हो जायगा। इस लिए जिस तरह शरद के बादलों की ओट में भयाक्रांत व्यक्ति की भाँति बिजली चमक-चमक कर सो जाया करती है उसी तरह तू भी हृदय में तड़प-तड़प कर रह जा।

'विकल भावों के दर्दी बादल ही तो उमड़ कर प्रेम का वर्षण करते हैं जिसके रिमझिम में नहा कर काया पुनीत बन जाती है। सचमुच प्रेम की पीर कुछ मीठी भी होती है। इस मिठास का आस्वादन करते हुए जीवन के अंत तक कर्त्तव्य की पगडंडी पर सँभल सँभल कर चलता चल—न अधीर हो, न व्याकुल।

'देखो, विरह-शृंगार के कारण ही तो रात इतनी अच्छी लगती है। झिलमिल तारे रजनी के नयनों के अश्रु-कण ही तो हैं। वे कभी ढुलकते हैं! मेरी आँखों के अश्रु के प्रत्येक कण में प्रिय की चाह भरी है। ऐसा न हो कि वे उफन कर चू पड़े।

'वेदने! भगवान् न करे कि तुम्हें काकिली के समान मुखरित होने की चाट पड़ जाय। चातक की पुकार के भीतर झाँककर देखो। काकिली के उपरान्त कोयल की क्या दशा होती है यह भी देखो न। वेदना का वर्णन सुन्दर होता है किन्तु उनके कारण व्याकुलता कितनी बढ़ जाती है!

'मेरे पास भावनाओं में पला कोमल हृदय है। इसलिए तुम से आग्रह है कि मूक आह बन कर श्वास-प्रश्वास के रूप मे दबे पाँव आती जाती रहो। छाया की तरह उसके पीछे न पड़ो। तुम में प्रचंड दाहकता है। वह उसे झुलस देगी।

'दुराग्रही बन हृदय को झकझोरो नहीं। सुप्त धड़कनों को फिर उठाने की कोशिश न करो। मेरा हृदय सोया है। वह मधुर स्मृतियों के स्वप्न में विभोर है। अपने कठोर आघातों से जगा कर उस पर अत्याचार न करो।'

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच
तड़प ले चपला सी भयभीत

पड़ रहे पावन प्रेम-फुहार
जलन कुछ-कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर
प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर

अश्रुमय सुन्दर विरह निशीथ
भरे तारे न ढुलकते आह !
न उफना दे आँसू हैं भरे
इन्हीं आँखों में उनकी चाह

काकली-सी बनने की तुम्हे
लगन लग जाय न हे भगवान्
पपीहा का पी सुनता कभी।
अरे कोकिल की देख दशा न;

हृदय है पास, साँस की राह
चले आना-जाना चुपचाप
अरे छाया बन, छू मत उसे
भरा है तुझमें भीषण ताप

हिलाकर धड़कन से अविनीत
जगा मत, सोया है सुकुमार
देखता है स्मृतियों का स्वप्न
हृदय पर मत कर अत्याचार

सुवासिनी चाणक्य की प्रेयसी है। काल के चक्र मे पड़ कर उसे नर्तकी बनना पड़ा है। उसका हृदय अब भी अपने प्रिय के लिए रो पड़ता है। किन्तु वह अपनी आह को दबाये रखती है क्योंकि अगर वह प्रगट हो जायगी तो दुनिया वाले हँसेंगे और तिरछे खडे होकर कहेंगे कि यह पामरी की चाल है। है नर्तकी और अभिनय करने चली है मीरा का। कुछ ऐसा ही भाव इस गीत की आरम्भिक चार पंक्तियों में व्यक्त हुआ है। भला यह गीत क्या किसी अन्य पात्र के लिए इतना चुस्त बैठता ?

एक ऐसा ही गीत 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी ने गाया है। किन्तु थोड़ा-सा विश्लेषण करने पर पता चल जायगा कि इन दोनों गीतों में कितना अन्तर है और 'प्रसाद' के पात्रों की आत्मा किस प्रकार उनके गीतों में छिपी रहती है।

ध्रुवस्वामिनी का दर्द, चन्द्रगुप्त की दुर्दशा और रामगुप्त का आचरण देख कर मन्दाकिनी की आँखें भर-भर आती हैं। उसका जी चाहता है कि इस कलुषित वातावरण से कहीं दूर, विस्मृति में अपने को छिपा ले। 'पर मन्दा! तुझे विधाता ने क्यों बनाया (सोचने लगती है) नहीं। मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा। न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना होगा।' गाती है—

'मेरे अश्रु! परिस्थिति की इस चोट को सह ले। विनयी की भाँति पलकों की परिधि में रहकर अभिमान की वस्तु बन और मुझे नारी की हस्ती

से परिचित करा। ('पुरुष दुःख की चपेट में प्रगट हो जाता है और नारी उसे धीरता से सह लेती है'। दुःखों को स्वीकार कर अपने कर्त्तव्य-पथ पर अबाध गति से अग्रसर होने में ही नारी का गौरव है। नारी की इस क्षमता के सामने संसार की कोई भी शक्ति टिक नहीं पाती।) प्रेम-सलिल के रूप में तू मेरे नयन-कोरों में टिका रह और दुनिया को नारी की अव्यक्त वेदना की छिपी कहानी सुना (कि नारी दुःखों के अंगार को अपने अञ्चल में छिपा लेती है और सृष्टि को अपने ममत्व का अमृत देती है)। संसार बड़ा दुःखी है। यहाँ अपने कष्टों के प्रकाशन से उसके दुःखों को बढ़ाना अच्छा नहीं। नारी कल्याणमयी है। उसके आँसू संसार के व्यथित प्राणियों पर करुणा का शीतल आप्लावन करने के लिए बने हैं।'

यह कसक अरे आँसू सह जा।
बन कर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा।
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।

कहना न होगा कि सुवासिनी के स्वर में दीनता और मन्दाकिनी की वाणी में दृढ़ता है। सुवासिनी आँसू थाम कर परिस्थिति के अनुकूल बनना चाहती है और मन्दाकिनी आँसुओं पर अधिकार जमा परिस्थिति को विजित करना चाहती है।

'प्रसाद' के गीतों का व्यास अति विस्तृत है। यहाँ यौवन का मादक संगीत है, नर्तकियों की सधी तान है, राष्ट्रीयता के उद्बोधन

गान हैं, नारी जीवन का करुण गीत है, आवेश के उद्गार हैं, जीवनपथ के थके बटोहियों की दर्दभरी आवाज है, स्मृतियों की स्वरलहरी है, आदि आदि। (नाटकीय कथा-वस्तु के उपयोग के लिए पारसी नाटकों के ढग के शेरों और विरक्त पुरुषों के अधिकांश पदों की गणना गीतों में नहीं की जा सकती।) फिर भी जवानी के प्रणय-गीत उन्होंने अधिक गाये हैं। कारण यह है कि 'आरम्भ से उनके चारों ओर एक ऐसे लोक का विस्तार रहा, जिसमें वैभव था, विलास था, सुख था; जो यौवन की मदिरा से प्रमत्त, यौवन के ज्वार में चिन्ताहीन और यौवन के स्पर्श एवं बोझ से मृदुल और शिथिल था।' 'प्रसाद' के इस प्रणय का आधार है 'रूप'। और रूप की तसवीर उतारते समय सफलता 'प्रसाद' के चरणों पर लुठित रहती है। यौवन पूर्ण हास विलास के साथ प्रकट है और प्रत्येक भाव चित्र बनकर आ रहा है। यही वह स्थान है जहाँ कवि की कल्पना चित्रकार की तूलिका का वरदान पाकर एक अद्भुत लोक की सृष्टि करती है। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में रत्नावली और प्रमदा ने यौवन के इस रूप के टिकाव के लिए 'मधुर माधव ऋतु की रजनी की पृष्ठभूमि बनायी है जिसमें 'हठीला मान' छोड़ देने का आग्रह है। 'विशाख' की चन्द्रलेखा ने इस रूप की एक अनूठी छवि देखी थी—

देखी नयनों ने एक झलक, वह छवि की छटा निराली थी।
मधु पीकर मधुप रहे सोये, कमलों मे कुछ-कुछ लाली थी॥
सुरभित हाला पी चुके पलक, वह मादकता मतवाली थी।
भोले मुख पर वे खुले अलक, सुख की कपोल पर लाली थी॥

दूसरी पक्ति मे मुग्ध यौवन की तसवीर किस सफलता से अंकित है! 'भोले मुख पर वे खुले अलक' में अछूती जवानी के 'ताफता रंग'

का जो संकेत है वह तो चुम्बक की तरह मन को बरबस खींच लेता है। आँखों की शिराजी और मुख का यह भोलापन देख कर ही उस शायर ने कहा होगा—'इस सादगी पर कौन न मर जाय ये खुदा !' 'अजातशत्रु' में यौवन का सौंदर्य इतना प्रखर हो गया है कि आँखें टिकतीं नहीं और अनुनय करती हैं कि—

दृष्टि को कुछ भी रुकने दो, न यों चमका दो अपनी कांति।
देखने दो क्षण भर भी तो, मिले सौंदर्य देख कर शांति ॥

इस यौवन के 'शशि-मुख' पर जब लज्जा का घूँघट पड़ा होता है तब झीने अवगुंठन से झाँकने वाला 'रूप' बड़ा सजीव हो उठता है।

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों !
नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते
हे लाज-भरे सौंदर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

—चन्द्रगुप्त

'लजीले सौंदर्य ! तुम यौवन की सुनहली आभा में छिप कर क्यों चलते हो ? हया से सर झुका कर शर्मीली निगाहों को नीचे किए मुग्धा के समान गर्वित होते रहते हो। किन्तु जवानी के अल्हड़ बादल (यौवन की उठान और मदमाती चाल) तो रस बरसा ही जाते हैं। तो फिर तुम्हारे उस मौन का क्या रहस्य है ?' 'प्रसाद' ने उस मौन का रहस्य जाना है। 'रूप' का यह मौन कितना मुखर है और कितना आकर्षक ! उस वय में लवेबाम पर जो मुसकराहट का तरल आप्लावन रहता है उसकी ओर सुवासिनी ने इन पंक्तियों में संकेत किया है।

अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में
मधुसरिता-सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?

लाज का यह बंधन वयस् की बाढ़ में दुर्बल पड़ जाता है। यौवन के कुञ्ज में कामनाएँ बोलने लगती हैं। मन एक उन्मादकारी कम्पनसे डोलने लगता है।

कलित है कोमल किसलय कुंज, सुरभि-पूरित सरोज-मकरंद।
खोल दे मुख मंडल सुख-पुंज, बोल दे बजे विपची वृंद।

—जन०।

आज इस यौवन के माधवीकुज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेमप्रलाप
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बंधन खोल रहा।

—स्कंदगुप्त

ऐसे अवसर पर सारी दुनिया प्रेम के दामन में बेहोश नजर आती है। अखिल प्रकृति मस्ती मे भींगी दीखती है। शकराज के चारों ओर रूप की हाट लगी है और रूप की रानी ध्रुवस्वामिनी की राह देखी जा रही है। उधर सध्या वफादार शाकी बन अपने जाम से जग के पिपासुओं का पैमाना भर रही है।

अस्ताचल पर युवती संध्या की
खुली अलक घुँघराली है।
लो मानिक मदिरा की धारा
अब बहने लगी निराली है।

भर ली पहाड़ियों ने अपनी
झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने बल्लरियों
से लिपटी तरु की डाली है।
....
वसुधा मदमाती हुई उधर
आकाश लगा देखो झुकने
सब झूम रहे अपने सुख में
तूने क्यों बाधा डाली है!

—ध्रुवस्वामिनी

फिर तो अधीर यौवन की अँगड़ाई चिनगारी बन कर फूट पड़ना चाहती है।

हाँ, ऐन्द्रिकता का स्पर्श हमें प्रसाद की अनेक पक्तियों में मिलेगा क्योंकि यह जीवन की वास्तविकता है और शायद जीवन की जरूरत भी। असीम और ससीम, आध्यात्मिकता और ऐन्द्रिकता, 'मन और आँख' के योग का नाम जीवन है। अतः जीवन के सुख का रहस्य समन्वय है, बहिष्कार नहीं। जीवन मे एक ऐसा समय आता है जब वासना संयम का अतिक्रमण करने को टूट पड़ती है। ऐसे ही अवसर पर श्यामा ने कहा था—

बहुत छिपाया उफन पड़ा अब
सम्हालने का समय नहीं है।
अखिल विश्व में सतेज फैला
अनल हुआ यह प्रणय नहीं है।

—अजातशत्रु

और तब वासना विभ्रम छोड़ कर विलास करना चाहती है। यौवन का यह विलास-विह्वल रूप विजया प्रस्तुत करती है।

'वेणी में अगरु के तिनके खुँसे हों। उनसे उठने वाली धुएँ की श्याम राशि लटों से लिपट रही हो। मेरी आँखों की शिरायें मस्ती में लाल हों और उन पर मुग्ध पलकें पड़ी हों। मेरे श्रम की बूँदों से आर्द्र वक्ष पर तुम उसी प्रकार क्रीड़ा करते रहो जिस प्रकार सजल बादलों में अधीर बिजली। मेरे नयनों के श्रमजनित अश्रु-कण बरौनियों को सिक्त कर रहे हों और मेरे अधरों के नीचे प्रिय के अधर (प्रेम का प्याला) हों।

'मेरी साँसें उखड़ रही हों। हृदय में धड़कन हो। मैं छोड़ देने के लिए, मुक्ति (!) के लिए तुमसे आग्रह करती और तुम मेरे अनुनय को ठोकर मार देते। मैं तिरस्कृत होकर भी आलिंगन में पड़ी रहती।'

> अगरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से
> मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से
> व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घनमाला से
> आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से
> ....
>
> उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो
> अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो
>
> —स्कंदगुप्त

आलिंगन के आवेग और आसक्ति का यह कितना सबल चित्र है! विलास का यह वेग ठोकर को भी बुरा नहीं मानता।

> चपल निकल कर कहाँ चले अब,
> इसे कुचल दो मृदुल चरण से।

कि आह निकले दबे हृदय से
भला कहो यह विजय नहीं है!

—अजातशत्रु

यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ
निर्दयता के इन चरणों से, जिससे तुम भी सुख पाओ

—स्कंदगुप्त

इसके बाद प्रेम की पीर आती है। यौवन के इस क्रमिक विकास को हम अलका की निम्न पंक्तियों में देखें।

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह।
बेच डाला था हृदय अमोल, आज वह मांग रहा था दाम,
वेदना मिली तुला पर तौल, उसे लोभी ने ली बेकाम।

—चन्द्रगुप्त

इस प्रकार यौवन अपने सम्पूर्ण रूप और गति के साथ 'प्रसाद' के नाटकों में व्यक्त हुआ है।

यह यौवन जब विफल होता है तब उसकी याद भी हृदय को सालती रहती है। किन्तु यौवन के प्रणय-गीत और विफलता की करुण रागिनी में एक स्पष्ट अंतर है। पहले मे लाज उत्तरोत्तर ढीली पड़ती जाती है जब कि दूसरे में नेम की टेक दृढ़ रहती है। 'पद्मावती' के गीत में हम इसे देख चुके हैं। इन पंक्तियों में भी कुछ ऐसी ही बात है।

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुये बीन—तार कोकिल
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल

हृदय धूल में मिला दिया है
उसे चरण-चिन्ह-सा किया है
खिले फूल सब गिरा दिया है
न अब बसती बहार कोकिल

सुनी बहुत आनन्द-भैरवी
विगत हो चुकी निशा-माधवी
रही न अब शारदी कैरवी
न तो मघा की फुहार कोकिल

न खोज पागल मधुर प्रेम को
न तोड़ना और के नेम को
बचा विरह मौन के क्षेम को
कुचाल अपनी सुधार कोकिल

—स्कंदगुप्त

अतीत की असंख्य स्निग्ध स्मृतियाँ सजीव होकर हठ ठानती हैं। दुःख के दुर्दिन में सुख की याद भी अभिशाप बन कर आती है। नर्तकियाँ उन्हें मना रही हैं। स्मृतियों के उफान और विवेक के दबाव में खींच-तान चल रही है। उन दिनों की याद आते ही हृदय की नसें तन गई हैं। स्मृति ने हृदय-वीणा की मीड़ कस दी है। हृत्तन्त्री के सभी तार तन गए हैं। इसलिए कोकिल से विनती है कि वह उसके आँगन में न कूके। उसकी काकली के स्पर्शमात्र से वेदना-विकल हृदय-बीन से करुण रागिनी फूट पड़ेगी।

उन्होंने प्रेम-यज्ञ के अग्नि-कुंड में अपने सभी अरमानों की आहुति देदी है। उनके हृदय में केवल भग्न अरमानों की धूल है जिसमें प्रिय का पद-चिन्ह अक्षुण्ण है। जिस प्रकार धूल कष्ट सह कर और

अपना अस्तित्व मिटा कर भी पथिक के पद का चिन्ह अपने हृदय में धारण किये रहती है' उसी प्रकार प्रेम की इन साधिकाओं ने भी अपने को तिल-तिल जला कर प्रिय के स्नेह को अपने हृदय में बचा कर रक्खा है। (जरा कवि–कल्पना पर ध्यान दीजिए) । उनके जीवन–उद्यान से बहार मुँह मोड़ गई है। सुख के फूल झड़ गए हैं। रंगीनियाँ समाप्त हो गई हैं। खुशी के गीत मूक हो गए। बसन्त की आलसभरी रुपहली रात बीत चुकी। शरत् की चाँदनी और मघा नक्षत्र का मोहक रिमझिम तो कब को गत हो चुके। 'अब तो दिन काटे खाता है और रात काटनी पड़ती है'।

इसलिये वे विनती करती हैं कि—

'कोकिल ! उन्मत्त प्रेम की पुकार मत कर। तुम्हारे प्रेम का आवाहन मेरे हृदय को अस्त-व्यस्त कर देगा। पीड़ाओ को हृदय में दबा कर प्रेम की साधना करने का जो मूक व्रत हमने लिया है वह टूट जायगा। दूसरों की टेक न तोड़ो। विरह के दुःख और अभाव की वेदना को मौन ही रहने दो। वाणी सँभाल कर उनकी रक्षा करो और अपनी नादानियों को समझो'।

किन्तु वे स्मृतियाँ भुलाये नहीं भूलतीं और पुरुष तो उनकी इच्छा भी रखते हैं। मातृगुप्त का गीत इस बात का प्रमाण है।

किन्तु स्त्रियों की आह बाहर नहीं निकलना चाहती क्योंकि इससे उनकी दुर्बलता प्रकट हो जायगी।

> निकल मत बाहर दुर्बल आह
> लगेगा तुझे हँसी का शीत
> शरद नीरद माला के बीच
> तड़प ले चपला-सी भयभीत
>
> —चन्द्रगुप्त

यह कसक अरे आँसू सहजा।
बन कर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता रह जा।
—ध्रुवस्वामिनी

इसीलिये यह हाहाकार है। वेदना की टीस अंत तक उनके जीवन में विद्यमान रहती है और वेदना की बिदाई लेकर ही उन्हें रंगमच से अलग होना पड़ता है। इसलिए 'प्रसाद' की ट्रेजेडी नारी-ट्रेजेडी है।

इस करुणा के मूल मे यौवन की विफलता, परिस्थिति की प्रतिकूलता, नारी की करुणा और बौद्ध-साहित्य का प्रभाव है।

फिर भी, 'प्रसाद' की कल्पना जीवन को 'कटु अन्त' देना नहीं चाहती। इस लिए उसने अपने नाटकों को प्रसादान्तता दी है। वेदना का दुर्वह भार ढोने में अक्षम जयशकर की कल्पना-विहगिनी गीतों को अपने पंखों पर ले उस आनन्दमय अनन्त लोक को जाती है जहाँ अभाव की वेदना टिक नहीं सकती। यहाँ पहुँच कर अनुभव और अनुभावक में भेद नहीं रह जाता। शायद इसीलिए 'प्रसाद' के गीतों के अन्त में रहस्यवादवाली अस्पष्टता दीखती है। 'महादेवी' का झुकाव सदैव करुणा और भक्ति की ओर है। वे करुणा में ही 'प्रियतम' की झाँकी पाना चाहती हैं। 'प्रसाद' करुणा के 'उर्मिल सागर' मे तिरते हुए दूर क्षितिज पर प्रकाश की सूक्ष्म रेखा देख 'उसपार' जाना चाहते हैं। 'प्रसाद' ने उस लोक की सुस्पष्ट झाँकी नहीं दी है, केवल उसका सकेत-मात्र दिया है। इसलिए उसमे लाक्षणिकता है। हमारी कल्पना उसे जिस रंग में चाहती है रंग लेती है।

प्रेम-लोक का यह सीमाहीन रूप हमे देवसेना ('स्कंदगुप्त' पृ०

१६६), अलका ('चन्द्रगुप्त' पृ० ८५–८६), कल्याणी ('चन्द्रगुप्त' पृ० १५२) और मालविका ('चन्द्रगुप्त' पृ० १६७) के गीतों मे मिलेगा। देवसेना दुःख की थाती लौटा सीमा के बंधन से जैसे नजात पा लेती है। अलका ने जीवन और यौवन को समझा है। प्रेम के बाद पीर और पीर के बाद अनन्त मिलन !

उड़ रही है हृत्पथ में धूल, आ रहे हो तुम बेपरवाह,
करूँ क्या दृग-जल से छिड़काव, बनाऊँ मैं यह बिछलन राह।
सम्हलते धीरे धीरे चलो—इसी मिस तुमको लगे विलम्ब,
सफल हो जीवन की सब साध–मिले आशा को कुछ अवलम्ब।
विश्व की सुषमाओं का स्रोत बह चलेगा आँखों की राह,
और दुर्लभ होगी पहचान, रूप रत्नाकर भरा अथाह।

अंतिम दो पक्तियों में जिस स्थिति की कल्पना की गई है वह क्या इस लोक की लघुता में उपलब्ध होगी !

गेटे के फॉस्ट की जिन्दगी सौंदर्य ने बचायी थी। वह आत्म-हत्या कर रहा था कि किसी सुन्दरी की सुरीली तान उसके कानों में पड़ी और वह शिथिल पड़ गया। कुछ ऐसी ही बात 'चन्द्रगुप्त' की कल्याणी के साथ एक स्थान पर हो गई है। उसके जीवन के दो स्वप्न थे 'दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र विलास-सी चन्द्रगुप्त की छवि, और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध'। किन्तु मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बंदिनी है ! 'मगध के राजमंदिर उसी तरह खड़े हैं; गंगा शोण से उसी स्नेह से मिल रही है; नगर का कोलाहल पूर्ववत् है ! परन्तु न रहेगा एक नंद-वंश !' वह आत्महत्या करना चाहती है किन्तु जीवन का आकर्षण उसके पाँव थाम लेता है। आकाश का धवल चन्द्र जीवन का

आलोक बिखेरता जान पड़ता है। वह 'कुमुदबन्धु' से अमृत और आलोक का वरदान मांगती है।

सुधा-सीकर से नहला दो!
लहरें डूब रही हों रस में
रह न जायँ वे अपने बस में
रूप-राशि इस व्यथित हृदय सागर को—
बहला दो!
अंधकार उजला हो जाये
हँसी हंस माला मँडराये
मधुराका-आगमन कलरवों के मिस—
कहला दो!
करुणा के अंचल पर निखरे
घायल आँसू हैं जो बिखरे
ये मोती बन जायँ, मृदुल कर से लो—
सहला दो।

किन्तु यह 'जीवन-मधु' तो इस कठोर पृथ्वी पर नहीं मिलेगा। अतः उस पार के सीमाहीन प्रेम-लोक में इसी मधु की कल्पना करती हुई मालविका ने चन्द्रगुप्त के लिए अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया था।

इस अनन्ता निधि के नाविक, हे मेरे अनङ्ग अनुराग!
पाल सुनहला बन, तनती है स्मृति, यों उस अतीत में जाग।
कहाँ ले चले कोलाहल से मुखरित तट को छोड़ सुदूर,
आह! तुम्हारे निर्दय डाड़ों से होती हैं लहरें चूर।
देख नहीं सकते तुम दोनों चकित निराशा है भीमा,
बहको मत क्या न है बता दो क्षितिज तुम्हारी नवसीमा!

ऐन्द्रिक (Secular)—जगत् बहुत पीछे छूट जाता है और उस पार का क्षितिज मालविका के अनुराग का नवीन अनुभव-क्षेत्र बन जाता है। इस प्रकार यह प्रेम अन्त मे एक अभिनव रूप धारण कर लेता है। पं० कृष्ण शंकर शुक्ल के अनुसार 'यह प्रेम अलौकिक आलम्बन का आश्रय ग्रहण कर भक्ति में परिवर्तित हो जाता और लौकिक आलम्बन पर स्थिर हो रतिभाव के अनुकूल पडता हुआ चलता है'। श्रीमती राजेश्वरी के शब्दों में "प्रसाद के गीतों की अन्तिम दो पक्तियाँ प्राय: प्रकृति में 'भव, विभव, पराभव' की शाश्वत क्रियाओं में गीत का सार मिला देती हैं।"

इस प्रकार 'प्रसाद' की गीत-जाह्नवी अन्त में अनुराग के अनन्त सागर से मिलकर अनन्त हो जाती है।

यह तो हुआ प्रसाद के गीतों का अन्तस्। अव हम उनके बाह्यरूप की कमनीयता देखें।

'प्रसाद' के गीतों में चित्रमयता और लाक्षणिकता, कल्पना और अनुभूति, वैज्ञानिक सूक्ष्मता और भावना की सुकुमारता, काव्य और संगीत सभी एक घने आलिंगन में एकाकार हैं। इस लिए 'प्रसाद' के गीतों में हम एक अद्भुत आकर्षण की सृष्टि पाते हैं जिसमें पहुँच कर प्रत्येक पाठक अपनी सुध खो बैठता है, अपनी परिस्थिति को भूल कर झूमने लगता है। उस लोक का अभिभावक 'प्रसाद' आज के आधुनिक हिन्दी गीति-कारों में सब से आगे हैं। ज्यों ज्यों उनकी आकृति की स्मृति धुँधली पड़ती जाती है त्यों त्यों उनके अतस् की प्रतिभा निखरती जाती है। 'पंत' में संगीत की सरसता तो है किन्तु कल्पना की वह उद्दात्तता और एकतानता नहीं जो हम 'प्रसाद' के गीतों मे पाते हैं और जिसके कारण शैली इतना लोकप्रिय हो गया। महादेवी वर्मा में

अनुभूति की गहनता तो है, भावनाओं का उन्मेष तो है किन्तु वह प्राञ्जल व्यजना नहीं जो 'प्रसाद' के गीतों का एक विशिष्ट आकर्षण है। 'बच्चन' की भाषा और अभिव्यंजना तो बड़ी मोहक है किन्तु उनकी अनुभूतियों में हृदय के उस 'जारज रस' का अभाव है जो गीतों को अमरता और स्थायित्व देता है। 'निराला' में गीत के सभी उपादान विद्यमान हैं किन्तु निरालेपन का मोह प्रायः सीमा लाँघ जाता है।

आरम्भिक पृष्ठों में हमने देखा है कि रूप और यौवन की चेष्टाओं का चित्रण 'प्रसाद' ने बडे सजीव और प्राणमय ढंग से किया है। नयी जवानी की खुमारी भरी आँखें किस प्रकार इस एक पंक्ति के रूपक में सिमट कर चमक पड़ी हैं—

मधु पीकर मधुप रहे सोये कमलों में कुछ-कुछ लाली थी और 'भोले मुख पर वे खुले अलक' के एक संक्षिप्त रेखा-चित्र में किशोरावस्था का अल्हडपन, मुख-मण्डल की स्वस्थ सुन्दरता और चन्द्रलेखा का प्रेम-आकर्षण किस खूबी से एक साथ बोल उठे हैं! 'प्रसाद' की मूर्ति-विधायिनी शक्ति ने रूप की स्थूल योजना से अलग जहाँ चेतन चेष्टाओं की झाँकी दिखाई है (अधिकांश चित्र ऐसे ही हैं) वहाँ तो 'केशव कहि न जात का कहिए' वाली बात हो गई है।

उदाहरण के लिए इन पक्तियों को देखिए।

तुम कनक किरण के अन्तराल मे

....

तरल अपनी पीते रहते हो क्यों!

(विश्लेषण के लिए देखिए पृ० १२२-२३)। 'प्रसाद' ने न केवल यौवन की बाह्य चेष्टाओं का ही चित्र खींचा है वरन् उनकी चित्र-मुग्ध प्रतिभा ने हृदय की प्रत्येक अमूर्त भावना को आकार दिया है

और उसे तसवीर की आरसी में देखा है। जीवन के अंधकारपूर्ण क्षणों में अपनी परिस्थिति से अकेले लड़ने वाले के हृदय में जो आशा और निराशा, हार और जीत की भावनाओं का उत्थान-पतन होता है उसे हम निम्नलिखित पंक्ति-द्वय में देखें।

निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोले पर्णकुटी के द्वार।
दीप जलाये बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार।

श्यामा के सम्पूर्ण गीत में कला की दृष्टि से लाक्षणिकता (Suggestiveness) का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। यहाँ 'प्रतीक्षा पर अधिकार' में अन्तर्निहित 'विश्वास-पूर्ण प्रतीक्षा में तन्मय' के भाव पर ध्यान दीजिए और मुग्ध होइए।

चित्रमयता और लाक्षणिकता का यह सहज संयोग हम 'प्रसाद' के प्रकृति-चित्रण में, जहाँ उन्होंने प्राणों का स्पन्दन भर दिया है, सर्वत्र पायेंगे।

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर—नाच रही तरु शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर—मंगल कुंकुंम सारा।
लघु सुरधनु से पख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा।

सिन्धु का मनोहर तट कार्नेलिया की आँखों के सामने एक नया चित्र-पट उपस्थित कर रहा है। इस वातावरण से धीरे-धीरे उठती हुई प्रशान्त स्निग्धता जैसे उसके हृदय में घनी हो रही है। प्रस्तुत गीत की दूसरी पंक्ति में उक्त भू-खण्ड की विस्तीर्णता, तीसरी और चौथी पंक्तियों में सिंधुतट की पार्श्ववर्ती भूमि के प्राकृतिक सौंदर्य तथा पाँचवीं और छठी

पंक्तियों में उस देश के सुख और शान्तिपूर्ण जीवन का भाव और उनका चित्रवत् वर्णन तो है ही और 'कवि अपने मूल विषय को लेकर कितनी दूर चला गया है, व्यक्तिगत भाव के भार से कितना छुटा हुआ ! पक्षियों का अनुकूल पवन के सहारे, छोटे-छोटे इन्द्र धनुषों के-से पंख पसारे, अपनी ईप्सित दिशा में नीड़ों की ओर उड़ना और मेरा देश ! (सुख सौंदर्य और अपनेपन की व्यंजना) । अनजान क्षितिज को कूल-किनारा मिलना—सहारा मिलना, और मेरा देश ! (आश्रय, दाक्षिण्य और औदार्य का भाव) ।'*

खूबी यह है कि भावना की यह अमरबेल वैज्ञानिक वास्तविकता की ठोस शाखा के सहारे ही विस्तार पाती है ।

अस्ताचल युवती संध्या की
खुली अलक घुँघराली है ।
× × ×
सब झूम रहे अपने सुख में
तूने क्यों बाधा डाली है ।

(देखिए पृ० १२३-२४) । उपरोक्त गीत में संध्या के रूप में रूप-पिपासुओं के पैमाने में यौवन का आसव ढालनेवाले शाकी का स्वरूप किस प्रकार बिम्बित है और तिस पर संध्या का यह श्लेषांस कितना वास्तविक है ! संध्या के समय क्षितिज पर कालिमा धीरे धीरे घनी होने लगती है और मुख पर बिखरी हुई केश-राशि के सदृश जान पड़ती है । इधर वन, बाग, तड़ाग सभी सुनहली आभा से दीप्त हो उठते हैं । झील के विस्तृत जल खण्ड पर जब प्रतीची का यह प्रकाश पड़ता है तो एक अभिनव दृश्य उपस्थित होता है । जब सूर्य की

* हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी ।

ज्योति एक विशेष स्थल पर तीव्र होती है और उसके नीचे नन्हीं लहरियाँ लहराने लगती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि रत्न-जड़ित पात्र में शिराजी भर दी गई हो। तीर पर के विटपों की पतली २ टहनियाँ धूप में मुरझा कर साँझ को झुक-सी जाती हैं, मानों वे भी होठों को नीचे कर प्रकृति की पेया का पान करना चाहती हों। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की यह बारीकी हम 'प्रसाद' में सर्वत्र पाते हैं।

मधुकर से कर संधि विचर कर उषा नदी के तट उस पार ;
चूसा रस पत्तों-पत्तों से फूलों का दे लोभ अपार।

इन पंक्तियों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कैसा अपूर्व संयोग है! (देखिए पृ० १०६–१०)।

मूर्तिमत्ता और लाक्षणिकता के इस रहस्य के मूल में मूर्ति-विधायिनी प्रतिभा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त कवि का गहन मनन भी है जिसके अन्तर्गत शब्द-चयन, विशेषण-प्रयोग, पदयोजना आदि आते हैं।

मीड़ मत खिँचे बीन के तार!

यहाँ 'मीड़', 'बीन' और 'तार' की गुरु मात्राओं के सहारे मोटी आह की धीमी गति बड़ी खूबी के साथ व्यक्त की गई है। और,

तुम कनक किरण के अन्तराल मे
लुक-छिप कर चलते हो क्यों?

—आदि पंक्तियाँ यौवन के चंचल रूप की अभिव्यक्ति के निमित्त अपनी लघु मात्राओं को समेट कर बड़ी फुर्ती से चलती हैं! कुन्दन-से शरीर से फूटने वाली स्वस्थ यौवन की दीप्ति के लिए कनक और किरण शब्द भी खूब चुस्त बैठे हैं और एकहरे शब्दों के कारण सम्पूर्ण गीत मे एक संगीतमय बिछलन आ गई है।

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती—

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतीज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य-पन्थ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।

इस गीत मे संयुक्ताक्षरों द्वारा कार्य की गुरुता और साधना के दायित्व का तो बोध होता ही है, साथ ही गीत प्रत्येक शब्द पर रुक-रुक कर चलता है मानों वह भी देश-प्रेमी शूरों की भाँति दुर्गम राह पर पाँव दबा-दबा कर और गौरव से अकड-अकड़ कर चल रहा हो।

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले

× × × ×

तब भी गिरि-पथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब शैल चले।

यहाँ 'ऊपर ऊँचे' इन दो पर्यायवाची शब्दों के द्वारा गिरिपथ के 'अथक पथिक' के अदम्य उत्साह और अथक परिश्रम को मूर्तिमान किया गया है। यदि एक शब्द होता तो वह प्रभाव न आता। इन गीतांशों को देखिए।

(क) अश्रुमय सुन्दर विरह निशीथ
भरे तारे न ढुलकते आह!

(ख) व्याकुल बिजली सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घन माला से।

(ग) बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात।

तारों के लिए ढुलकना, बिजली के लिए मचलना और चाँदनी के लिए बिछलना शब्द का कितना सुन्दर प्रयोग हुआ है! ये शब्द

मूर्ति का विधान तो करते ही हैं, अपनी २ अवस्थाओं के द्योतक होने के कारण बड़े लाक्षणिक भी हो गए हैं।

कहीं २ तो एक सादा शब्द अर्थ की एक घनी दुनिया घेर कर बैठ जाता है।

किसी का हमने छीना नहीं प्रकृति का रहा पालना यहीं।

यहाँ 'छीना' औ 'पालना' पर ध्यान दीजिए और उनमें अन्तर्निविष्ट अर्थ की विशदता का अनुभव कीजिए।

शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग के अतिरिक्त विशेषणों की मौलिक योजना भी भावों को मूर्तिमान करने में कम सहायक नहीं होती। निम्नलिखित पंक्तियों के विशेषण इसके प्रमाण हैं।

(क) श्रमित स्वप्न की मधुमाया में।

(ख) उससे हारी होड़ लगाई।

(ग) यौवन के माधवी कुंज में।

अतः मातृगुप्त का यह कथन कि कविता "वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाती है" 'प्रसाद' के गीतों के लिए अति उपयुक्त जँचता है।

मूर्तिमत्ता और लाक्षणिकता के अतिरिक्त भावानुरूपता 'प्रसाद' की गीत-शैली की एक भव्य विभूति है। भावना के रूप और हृदय की गति के साथ इन गीतों की गठन का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। 'अस्ताचल युवती संध्या की' वाले गीत का उत्कर्ष न केवल चित्र के विधान पर अवलम्बित है वरन् हृदय की जिस विशेष अवस्था और उद्देश्य की जिस भावना से प्रेरित होकर वह रचा गया है उसकी पूर्ण सिद्धि पर भी। हृदय की वासना को उद्दीप्त कर संयम की ग्रंथि को ढीला करना ही गायिकाओं के इस गीत का मुख्य प्रयोजन है। इस उद्दीपन

के लिए प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र का सहारा लिया गया है। और देखिए किस तरह प्रकृति का एक-एक दृश्य मन पर चोट करता है। प्रकृति के एक कोने से वासना का लाल प्रवाह निकला है और निवृत्ति के सभी अवरोधों को छिन्न-भिन्न करता हुआ अग-जग में अभिव्याप्त हो गया है। डालियों का झुकना, पर्वतों का होठ के नीचे की झील रूपी प्याली को 'मानिक मदिरा' से भरना और अपनी बाँट लेने के लिए पक्षियों के जोड़े का उड़ना यह संकेत करता है कि इस तरल शृंगार-भावना से जड़-चेतन सभी प्रभावित हैं। मानव की कौन कहे यहाँ देवताओं का आसन भी डोल जाता है। यह भावना तो आकाश को भी झुका देती है। और अन्त में हृदय का द्वन्द्व एक ओर झुक कर निष्कर्ष की ध्वनि में गीत के साथ बोल उठता है—जब जड़-चेतन, देव-किन्नर इससे अछूते नहीं है तो फिर हम इसे पाप क्यों मानें ! हम भी क्यों नहीं जीवन का सुख लूटें।

विरूद्धक के इस गीत को देखें।

> अलका की किस विकल विरहिणीकी पलकों का ले अवलम्ब,
> सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब !
> बरस पडे क्यों आज अचानक सरसिज कानन का सङ्कोच,
> अरे जलद में भी यह ज्वाला ! झुके हुए क्यों किसका सोच ?
> किस निष्ठुर ठण्ढे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ समान ?
> पिघल रहे हो किस गर्मी से ! हे करुणा के जीवन-प्राण !
> चपला की व्याकुलता लेकर चातक का ले करुण विलाप,
> तारा आँसू पोंछ गगन के, रोते हो किस दुःख से आप ?
> किस मानस निधि में न बुझा था वड़वानल जिससे बन भाप,
> प्रणय-प्रभाकर-कर से चढ़ कर इस अनन्त का करते माप।

क्यों जुगनू का दीप जला, है पथ में पुष्प और आलोक।
किस समाधि पर बरसे आँसू किसका है यह शीतल शोक ?
थके प्रवासी बनजारों से लौटे हो मन्थर गति से;
किस अतीत की प्रणय-पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से ?

[सजल बादल ! इन्द्रलोक की किस विरहिणी की पलकों के पर्यंक पर अब तक सुख से निद्रित और निस्पंद पड़े थे ? और आज कमल के सकुचित होने पर उनके दलों से चू पड़नेवाली बूँदों की तरह एकाएक बरस क्यों पड़े ? जलकण से निर्मित नीरद, भला तुम में ज्वाला की यह उष्णता कैसी ? क्षितिज के छोर पर झुके बादल तुम किसकी चिन्ता से दबे जा रहे हो ? आर्द्र करुणा के प्रतीक ! तुम जाने किस निठ्ठले हृदय की शिथिल भावनाओं की तरह बर्फ बन कर जमे थे और जाने आज कौन सी ज्वाला तुम्हारे चतुर्दिक घिर आयी है जिससे पिघल कर तुम पानी-पानी हो रहे हो ? अरे तुम तो तारे रूपी अश्रु-विन्दुओं को पोंछ पोंछ कर रो रहे हो ! तुम्हारे 'हृदय की बेताबियाँ आकाश में बिजलियाँ बन कर कौंधती हैं' और तुम्हारे हृदय का हाहाकार चातक की करुण पुकार मे व्यक्त हो उठा है। तुम्हारी चपल गति में तो अनन्त आकाश को माप लेने की व्यग्रता दीखती है। भला किसके हृदय-पारावार में बड़वानल की ज्वाला (प्रेम की पीड़ा) शांत न हुई थी जिसके फलस्वरूप उसका जल (सुकुमार भाव) भाप (हाहाकार) के रूप में परिवर्तित होकर प्रेम रूपी सूर्य की अरुण किरणों पर चढ़ कर इस सीमाहीन आसमान को माप रहा है ? हाँ, किसी की विरहाग्नि का धुँआ ही आकाश में काले बादल बन कर छा गया है। नहीं, ये रसवन्ती की बूँदें नहीं हैं। ये तो योगिन बन कर पथ में फूल छिटती आँचल में जुगनू के दीप लिए अपने प्रियतम की समाधि पर शोक का अश्रु-अर्घ्य डालने जा रही

हैं। वह कौन-सी भाग्यवान आत्मा है जिसकी समाधि-पूजा के लिए इतनी साज-सज्जा की जा रही है, इतने सामान मुहैया किए जा रहे हैं! बादल, तुम तो दूर देश की हाट से लौटे हुए प्रवासी व्यापारी की तरह श्रांत और शिथिल गति से धीरे धीरे चलते हो। दामनी के रूप में अतृप्त प्रणय की अतीत स्मृतियाँ बरबस प्रकट हो रही हैं। ओ मेरे दुःख-सहचर क्या उस अतृप्ति की कहानी न कहोगे!]

इस गीत में चित्रमयता और पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता तो हैं ही, इन पंक्तियों मे विरुद्धक के भग्न हृदय से विशृखल गीत उसी प्रकार फूट पड़ा है जिस प्रकार छिन्न विपञ्ची से टूटी हुई रागिनियाँ। उखड़े मन के चल-भावों को व्यक्त करने के लिए ही इस गीत मे असम्बद्ध रूपकों की योजना की गई है। बादल की सृष्टि-शृखला की प्रत्येक अवस्था के साथ हृदय की भावनाओं का तादात्म्य स्थापित किया गया है और उन टूटी हुई विभिन्न तसवीरों के सहारे विरुद्धक के हृदय की भावनाओं का भी व्यापक चित्र खींचा गया है। मल्लिका के प्रति उसकी प्रेम-विह्वलता, उसकी निराशा आदि भावनाओं का परिष्कृत (Sublimed) रूप ही तो 'मेघगीत' के रूप में प्रगट हुआ है। विजया और श्यामा, सुवासिनी और मंदाकिनी के गीतों में जो सूक्ष्म भेद है वह इसी लिए कि उनके गीतों में उनकी भावनाओं का सूक्ष्म स्पंदन है। नीचे की पक्तियों में देखिए कि भाव की गति के साथ ये गीत किस प्रकार अपनी अनुकूल चाल से गतिमान होते हैं।

मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी
मेरे निश्वासों से उठ कर अधर चूमने को ठहरी
मैं व्याकुल परिरंभ मुकुल मे बन्दी अलि-सा काँप रहा

प्रथम दो पक्तियों मे हँसी की तरंग के साथ गीत की लहर भी उठती

है और तीसरी पंक्ति के पूर्वार्द्ध में आलिंगन के बन्दी की भाँति गीत का प्रवाह भी जैसे वात्याचक्र में क्षण भर के लिये फँस जाता है।

सब रगों में फिर रही हैं बिजलियाँ
नील नीरद ! क्या न बरसोगे कभी

उपरोक्त गीत की प्रथम पंक्ति में जो गति है वह बिजली की भाँति रह-रह कर टीस मारने वाली वेदना का परिचायक है और नील नीरद पर जो ठहराव है वह भावना के गति-परिवर्तन की सूचना देता है। अंग-प्रत्यंग में असह्य वेदना का अनुभव होता है और तब पीड़ा से खिंच कर मन वेदना दूर करने वाले की ओर लगता है। भाव का यही दिशा-परिवर्तन ऊपर की पंक्तियों में प्रदर्शित हुआ है। 'प्रसाद' के गीतों की गठन इस प्रकार की होती है, उसका नियमन इस प्रकार का होता है कि अन्तर में उठने वाले भाव—ज्वार और बाह्य जगत् में होने वाले दृश्य परिवर्तन को वह रूप और गति से युक्त कर पग-पग पर व्यक्त करता चलता है। देखिए—

जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक

कल्पना की कमनीयता भी कुछ कम आकर्षक नहीं है।

हृदय धूल में मिला दिया है
उसे चरण-चिन्ह-सा किया है

इन पंक्तियों में कल्पना की जो उड़ान है वह सर्वथा मौलिक और सुष्ठु है।

क्या कल्पना के सृजन में और क्या अलंकारों के विधान मे 'प्रसाद' सर्वथा मौलिक हैं। 'पलकें झुकी यवनिका-सी थीं', 'मादकता-सी तरल हँसी' आदि मौलिक उपमाओं के उदाहरण हैं। रूपक और उपमा 'प्रसाद'

के प्रिय अलंकार हैं। पाश्चात्य अलंकारों को भी उन्होंने प्यार से अपनाया है। मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि वैसे ही अलंकार हैं। इन्हे 'प्रसाद' के गीतों में प्रचुर मात्रा में देखेंगे।

(क) मेरी यात्रा पर लेती थी
नीरवता अनन्त अँगड़ाई

(ख) हे लाज भरे सौंदर्य!
बता दो मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में
मधुसरिता-सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?

आदि पंक्तियों में मानवीकरण और निम्न पंक्तियों में विशेषण-विपर्यय के उदाहरण मिलेंगे।

(क) मादकता-सी तरल हँसी
(ख) यह मूर्च्छित मूर्च्छना आह-सी

ऊपर निवेदन किया गया है कि 'प्रसाद' के गीतों में शब्दों का चयन और गीत का नियमन इस प्रकार का है कि उनमें अनायास ही संगीत का प्रवाह उमड़ता रहता है। संगीत के आविर्भाव के लिए कहीं-कहीं आवृत्ति (अक्षर, शब्द अथवा पद की आवृत्ति) की भी सहायता ली गई है। जैसे,

(क) ओ मेरी जीवन की स्मृति
आ अनन्त के आतुर अनुराग
('अ' की आवृति)

(ख) हमारे जीवन का उल्लास, हमारे जीवन-धन का रोष।
हमारी करुणा को दो बूँद, मिले एकत्र हुआ संतोष॥
('हमारे' की आवृत्ति)

(ग) चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का।
नन्दन कानन का, रसीला नन्दन कानन का
('नन्दन कानन का' की आवृत्ति)

यत्र-तत्र अनुप्रास का आयोजन भी संगीत का प्रयोजन सिद्ध कर देता है।

हँसती-सी सुरभि सुधार रही,
अलकों की मृदुल अनी।

भाषा-शैली

गीत की भाषा और शैली के सम्बन्ध में यत्किंचित निवेदन कर दिया गया है। आइए, अब गद्य की भाषा पर विचार किया जाय। कहा जाता है कि 'प्रसाद' की भाषा में प्रसाद नहीं है। वह 'पथरीली' है। उसमे 'अभिनयोपयोगी चाञ्चल्य' नहीं है। उसमें सर्वत्र 'मन्थर गति का विधान' है। वह सस्कृत के भार से अतिशय बोझिल है। वह अनगढ़ है। वह 'दुरूह, गहन एव दुर्लंघनीय' है। वह 'कोमल कक-रीली' है। किन्तु अभिव्यक्ति की जिस शैली को लेकर 'प्रसाद' का व्यक्तित्व एक स्कूल बन गया, जिसका अनुकरण आज हम अपने चारों ओर देख रहे है और जिसके प्रशंसकों की सख्या दिनदिन बढ़ती जा रही है, उसे एक मात्र नौसिखियों की अनगढ़ भाषा मान लेना 'गुन न हिरानो गुन गाहक हिरानो है' को ही चरितार्थ करना होगा। अनि-वार्यता इस बात की है कि हम निकट से 'प्रसाद' की भाषा-शैली का अध्ययन करें।

नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में स्वय जयशंकर 'प्रसाद' जी ने अपनी पुस्तक 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में कहा है कि—

'मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारो के अनुसार भाषा मे होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों मे होना चाहिये; किन्तु इसके लिए भाषा की एकतत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओंका प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिये ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार

उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिये।'

इन पंक्तियों को ध्यान में रख कर यदि हम उनकी भाषा की समीक्षा करें तो भ्रम के लिए स्थान नहीं रहेगा।

'प्रसाद' जी ने भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण युगों को अपने नाटकों का आधार बनाया है। उन्होंने वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल और मौर्यकाल तक ही अपने को परिसीमित रक्खा है। यहाँ वितस्तता और विपाशा, शिप्रा और कपिशा के कूलों पर किये गये प्रयोगों का सिलसिलेवार वर्णन है; लिच्छिवि और वृजि गणतंत्र, मागध और मालव सेनानियों, क्षुद्रक और पौरव वीरों, चरणाद्रि और गोपाद्रि के दुर्गपतियों के दुर्घर्ष कार्यों की विकट कथाएँ हैं। कुसुमपुर और वाल्हीक, अवन्ती और उज्जयिनी की अन्तंकहानियाँ हैं; और हैं स्वर्ण गिरि से पञ्चनद तक तथा सौराष्ट्र से बंग तक फैली हुई तत्कालीन संस्कृति की उद्दात्त झाँकी कलाकार की तूलिका ने उस युग का अंकन किया है जब पाणिनि और जीवक को शिक्षा देने वाला तक्षशिला का महाविद्यालय उन्नति की पराकाष्ठा पर था, जब हमारे बीच वररुचि (कात्यायन) और मातृगुप्त (काव्यकर्त्ता कलिदास) थे। उन युगों का भव्य चित्र उतारने के लिए भव्य भाषा की अनिवार्यता थी क्योंकि 'अभिव्यक्ति के लिए समुचित वाहक भी चाहिए। जो कुछ उनको कहना है, वह उससे हल्की वा अन्य शब्दोंवाली भाषा में कहा ही नहीं जा सकता।' यही भव्य भाषा हम 'प्रसाद' के नाटकों में पायेंगे। इन नाटकों में कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख मात्र नहीं है। यहाँ इतिहास अपने सम्पूर्ण सांस्कृतिक स्वरूप और गति के साथ आ खड़ा हुआ

है। प्रसाद के नाटकीय पात्र मन, वचन और कर्म से अपने-अपने युगों के प्रतिनिधि हैं। वे न केवल घटना-काल के रहन-सहन, चाल-व्यवहार से ही परिचित हैं वरन् तत्कालीन भावाभिव्यक्ति की शैली और शब्दावली से भी। उन्हें गुणों की गरिमा और भाषा की स्मृद्धि दोनों प्राप्त हैं। 'प्रसाद' के नाटकों की भाषा में युग की अनुकृति इस प्रकार की है कि प्रथम दृश्य के सम्भाषण को सुन या पढ़ कर ही हमें ऐसा जान पड़ने लगता है कि हम बुद्ध, गुप्त, मौर्य, हर्ष आदि के युगों मे परिभ्रमण कर रहे हैं। अतः 'प्रसाद' की भाषा की तत्समता उसका अनिवार्य गुण है क्योंकि उसके सहारे काल-साम्य का निर्वाह होता है। इसी भाषा के रंग मे रग कर अजातशत्रु की परिषद्, स्कदगुप्त के सिंहासनारोहण, गालवों के स्कंधावार में होनेवाली युद्ध-परिषद् आदि के दृश्य अति वास्तविक और सजीव हो उठे हैं। तत्कालीन प्रयुक्त शब्दावलियाँ (जैसे महाबलाधिकृत, परमभट्टारक, महाप्रतिहार, कुमारामात्य, महादण्डनायक, विषयपति, कुलपति, वैखानस, क्षत्रप, कापालिक; उत्तरापथ, आर्यावर्त्त तथा शिविका, व्यासपीठ, हिस्तिका, अर्गला, गरुड़ध्वज, गुल्म, अन्तर्वेद, स्कधावार आदि) उस समय के वातावरण के निर्म्माण मे कितनी सहायक हुई हैं यह सहज ही जाना जा सकता है।

'प्रसाद' की भाषा तत्सम शब्द प्रधान और 'प्रसाद' की भावधारा से अपरिचित साधारण पाठकों के लिए एक-आध स्थल पर क्लिष्ट होने पर भी कृत्रिम नहीं है क्योंकि उसमें लेखक के व्यक्तित्व का स्वाभाविक प्रकाशन है। सस्कृत के संस्कार, बौद्ध साहित्य के सम्पर्क तथा दार्शनिक मनोवृत्ति ने उनकी भाषा को एक विशिष्ट रूप दे दिया था। उनके चिन्तन ने आरम्भ से ही अपने अनुरूप भाषा खोज ली थी। अतः

प्रसाद की भाषा कष्ट-साध्य नहीं है। उनमें भाव-प्रकाश का मोह चाहे हो किन्तु पांडित्य-प्रदर्शन का लोभ कदापि नहीं। वह भाव के साथ स्वयं हृदय से खिच कर आई है और इसीलिए उसमें इतना बल है।

हाँ 'प्रसाद' की भाषा भावों की अनुगामिनी है और इसीलिये दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन करते समय, कोमल एव भावात्मक स्थलों की योजना करते समय वह कठिन और क्लिष्ट-सी दीखने लगती है।

'आह, जीवन की क्षणभगुरता देख कर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे ये अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अन्धकार की गुफा मे ले जाकर उसका शांतिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची, किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊपर चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या?'

—अजा० पृ० ३५।

'अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्म-वाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ; व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था, उसके लिए रक्तपात क्यों?'

—स्कं० पृ८ १३०

उपर्युक्त दोनों अवतरणों की भाषा भाव-प्रधान है और उसमे जो क्लिष्टता दीखती है उसका कारण उनमें व्यक्त गूढ़ भाव हैं। यदि हम बुद्धदेव के 'सर्वं शून्यं सर्वं क्षणिकं' वाले सिद्धान्त को जान ले तो बिम्बसार का सम्पूर्ण कथन स्पष्ट हो जायगा और इसी भाँति यदि गौतम के अनात्मवाद का परिचय प्राप्त कर लें तो धातुसेन की बात भी हृदय में पैठ जायगी। यह सही है कि बिम्बसार की भाषा कवि के अप्रस्तुत का सहयोग पाकर मनोरम और सरस हो गई है किन्तु यह भी सही है कि धातुसेन अपने मन्तव्य को 'मौला कर दो बेड़ा पार' वाली फुसलाहट भरी भाषा मे प्रगट नहीं कर सकता था। अतः यहाँ संस्कृत आचार्यों का 'अप्रतीत्व' दोष लागू नहीं होगा।

भाव की यह ऊँची सतह सर्वत्र बनी रहती है क्योंकि 'प्रसाद' के नाटक कल्पना के आवेग के परिणाम न होकर घनी साधना के फल हैं। इस लिए अपनी 'भावानुवर्तिनी घनिष्ठता' के कारण उनकी भाषा भी प्रायः एक ऊँचे स्तर पर संतरण करती रहती है। जिस प्रकार लेखक के भाव-क्षेत्र में जीवन का हल्कापन नहीं मिलता उसी प्रकार उनकी भाषा में भी बालकों की सी चपलता और चकपकाहट नहीं मिलतीं। एक पहुँचे हुए व्यक्ति की भाँति वह समगति से झूमती हुई चलती है और एक एक शब्द में अर्थ-गौरव की अपार राशि भर कर रस का अविरल प्रवाह बहाती रहती है। किन्तु इस समगति से चलने वाली भाषा के पगों से भी इतनी तीव्र, मध्यम और कोमल ध्वनियाँ निकलती हैं कि हृदय के हर्ष-विषाद, गौरव-ग्लानि, उत्साह-क्षोभ सभी प्रकट हो जाते हैं।

प्रसेनजित्—'धर्माधिकारी! पिता का हृदय इतना सदय होता है कि नियम उसे क्रूर नहीं बना सकता। मेरा पुत्र मुझ से क्षमा-भिक्ष

चाहता है, धर्मशास्त्र के उस पन्ने को उलट दो, मैं एक बार अवश्य क्षमा कर दूँगा। उसे न करने से मैं पिता नहीं रह सकता, मैं जीवित नहीं रह सकता।'

—अजा० पृ० १६०-६१

इन पंक्तियों में प्रसेनजित् के हृदय के कठोर घेरे में बन्द वात्सल्य स्नेह की ठोकर खाकर झरने की भाँति फूट पड़ा है। पिता का कुंठित आह्लाद आज शत-शत धाराओं में बिखर कर अग-जग में व्याप्त हो जाना चाहता है।

देवसेना—'हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से विदा लेती हूँ।'

—स्कं० पृ० १६५

यहाँ देवसेना की सघन वेदना की कैसी सजल अभिव्यक्ति है! देवसेना अपनी भूलों को भूलने का यत्न कर रही है और बाहर की हलचल से दूर एकान्त में लीन हो जाना चाहती है। इधर भाषा ने भी अपने अलंकारों का श्रृंगार उतार फेंका है और सादे परिधान में उपस्थित हो देवसेना के प्रति संवेदनशील और करुण हो गई है।

अलका—'चली जा रही हूँ। अनन्त पथ है, कहीं पान्थशाला नहीं और न पहुँचने का निर्दिष्ट स्थान है। शैल पर से गिरा दी गई स्रोतस्विनी के सदृश अविराम भ्रमण, ठोकरें और तिरस्कार! कानन में कहाँ चली जा रही हूँ?—(सामने देख कर)—अरे! यवन!'

(शिकारी के वेश मे सिल्यूकस का प्रवेश)

सिल्यूकस—'तुम कहाँ, सुन्दरी कुमारी!'

अलका—'मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परिमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परिमाणुओं के बने हैं। फिर मैं और कहाँ जाऊँगी यवन !'

—चन्द्र० पृ० ४७

अलका स्वाभिमान के आवेग में पिता के राजप्रासाद से निकल आई है किन्तु कहाँ जा रही है यह वह स्वय नहीं जानती। सहारा के अभाव में वह पग-पग पर शंका और भय देखती है जिन्हे व्यक्त करने के लिए लेखक ने 'भ्रमण', 'ठोकर' और 'तिरस्कार' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु यवन के छेड़ते ही सारे भय और शंका को धोता हुआ अलका के हृदय से देशाभिमान और जातीय गौरव का प्रवाहपूर्ण स्रोत बहने लगता है। यहाँ सिल्यूकस की आकस्मिक उपस्थिति के द्वारा लेखक ने जो नाटकीयता लायी है और छोटे-छोटे सितुलित वाक्यखंडों के सहारे नाटककार ने अलका की वाणी में जो अविछिन्न प्रवाह भरा है वह प्रशसनीय है।

मगध के बन्दीगृह में बंद चाणक्य की दुर्जेय शक्ति की छटपटाहट और उसका रोष देखिए।

चाणक्य—'समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना ! परन्तु मन में इतने संकल्प और विकल्प ! एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। जकड़ी हुई लौहश्रृङ्खले ! एकबार

तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता को भंग कर दूँ।'

—चन्द्र० पृ० ३५

और देखिए ध्रुवस्वामिनी के क्षोभ को जिसमें व्याकुलता, विषाद, झुँझलाहट और क्रोध का मिश्रण है।

'निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीव!!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं! (ठहर कर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीलमणि नहीं हूँ। मुझ में रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।'

—ध्रुव० पृ० २७

इस प्रकार जयशंकर 'प्रसाद' की भाषा सब प्रकार के भावों का प्राणमय प्रकाशन करके भी अपने भव्य रूप में बनी रहती है और 'सदाबहार' की याद दिलाती है। वह उस सागर के समान नहीं है जिसमें ज्वारभाटा का उत्थान-पतन होता रहता है, उत्ताल तरंगों का चढ़ाव-उतार चलता रहता है। वह उस मनोरम मानसरोवर के सदृश है जिसके प्रसन्न चित्त पर खिंचने वाली नन्ही-नन्ही उर्मियाँ अपना विशेष महत्व रखती हैं और कमलों के योग से अभिनव चित्रकारी करती रहती हैं।

'प्रसाद' जी की शैली न केवल कोमल और करुण भावों के द्योतन में सफल होती है वरन् वह व्यंग्यात्मक शैली का रूप धारण करके कहीं मीठी चुटकी लेती है और कहीं तीखी और मार्मिक हो उठती है।

चाणक्य—'महाराज, उसे सीखने के लिये मैं तक्षशिला गया था और मगध का शिर ऊँचा करके उसी गुरुकुल में मैंने अध्यापन का

कार्य भी किया है। इस लिए मेरा हृदय यह मान नहीं सकता कि मैं मूर्ख हूँ।'

—चन्द्र० पृ० २५

छलना—'यह ताना सुनने मैं नहीं आई हूँ। वासवी, तुमको तुम्हारी असफलता सूचित करने आई हूँ।'

बिम्बसार—'तो राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी? यह तो एक सामान्य अनुचर कर सकता था।'

छलना—'किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह नहीं कहता। वासवी के दुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता था।'

—अजा० पृ० १०९

पहले उदाहरण में नन्द की राजसभा में उपस्थित हो चाणक्य ने शिष्ट व्यंग्य किया है कि उसके राज्य में शिष्टाचार की शिक्षा नहीं है और दूसरे उदाहरण में छलना ने वासवी को प्रसेनजित् की हार की सूचना चुटीली भाषा में दी है।

'प्रसाद' की भाषा में मुहावरों की चुलबुलाहट या फड़कन तो नहीं है किन्तु उनके अभाव में उसके वाक्य शिथिल भी नहीं पड़ते। यह उनके व्यक्तित्व का महत्व और सामर्थ्य प्रकट करता है। यों हम चाहे तो कुछेक मुहावरे भी यत्र तत्र देख सकते है। जैसे,

सिर घुटाते ही ओले पड़े।

(विशा० पृ० २२)

हाँ तो मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ।

(अजा० पृ० १)

जब राजा ही उसका अनुयायी है, फिर जनता क्यों न भाड़ में जायगी।

(अजा० पृ० ४२)

नई रानी ने मेरे विरुद्ध कान भर दिये हैं।

(अजा० पृ० ५८)

किन्तु यहाँ तो तेवर ही ऐसे हैं कि किसी को अनुनय विनय करने का साहस ही नहीं होता।

(अजा० पृ० १३)

चींटी भी पंख लगा कर बाज के साथ उड़ना चाहती है!

(अजा० पृ० ११)

मीठे मुँह की डायन!

(अजा० पृ० १३६)

तुम्हे देख कर मेरे देवता कूच कर जाते हैं!

(स्कं० पृ० २९)

क्यों घाव पर नमक छिड़कती है?

(स्क० पृ० १०३)

मेरी कुडली मिलाई या कि मुझे मिट्टी में मिलाया।

(स्क० पृ० १०६)

परन्तु पासा पलट कर भी न पलटा।

(स्क० पृ० १२६)

पर अब शेष है, दम घुट रहा है।

(चन्द्र पृ० १३२)

राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो।

(ध्रुव० पृ० ५२)

और जो अपनी पवित्रता की दुन्दुभी बजाते हैं, वे सब के सब साधु हैं न ? कुमार ! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बंधन नहीं ।

(ध्रुव० पृ० ७५)

और यदि चाहें तो दो-चार मौलिक मुहावरों के भी दर्शन हो सकते हैं। जैसे,

कुटिल कुतघ्न जीव मूर्खता की धूल उड़ावें ।

(अजा० पृ० १११)

वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ा कन्दुक नहीं बन सकता ।

(चन्द्र० पृ० ५२)

किन्तु 'प्रसाद' की प्रवृत्ति कभी मुहावरेदानी के बाह्य चमत्कार की ओर झुकी ही नहीं। उनकी भाषा को सूक्तियों के जो अनमोल मोती मिले हैं उनके सामने ये मुहावरे कांच के तुच्छ टुकड़े हैं। भाषा की उस वैभवशालिनी मंजूषा में इन्हें क्या स्थान मिलता ? जिस प्रकार कीमती नगीना के कारण अगूठी की शोभा बढ़ जाती है उसी प्रकार इन सूक्तियों के कारण 'प्रसाद' की भाषा अति चमत्कृत और लाक्षणिक हो गयी है । उसमें अजीब सजीवता (vivacity), लालित्य (elegance) और प्रभावोत्पादकता (strength) आ गई हैं। वास्तव में ये मार्मिक सूक्तियाँ उनकी भाषा के प्राण हैं। कुछ उदाहरण देखिए:—

शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है ।

(अजा० पृ० ३८)

रात्रि चाहे कितनी भयानक हो किन्तु प्रेममयी रमणी के हृदय से भयानक वह कदापि नहीं हो सकती !

(अजा० पृ० ८८)

कठोरता का उदाहरण है, पुरुष; और कोमलता का विश्लेषण हैं—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है।

(अजा० पृ० १५४)

परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है।

पुरुष उछाल दिया जाता है उत्प्रेक्षण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

(स्कंद पृ० २१)

पवित्रता का माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप।

(स्क० पृ० ४८)

भूला हुआ लौट आता है खोया हुआ मिल जाता है; परन्तु जो जान-बूझ कर भूल-भुलइयाँ तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है।

(स्कं० पृ० ११९)

अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं; यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।

(चन्द्र० पृ० ११५)

समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते हैं।

(चन्द्र० पृ० १३०)

स्वतंत्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है!

(चन्द्र० पृ० १७९)

मेघ-संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।

(ध्रुव० पृ० ११)

वीरता जब भागती है तो उसके पैरों से राजनीति छल-छन्द की धूलि उड़ती है।

(ध्रुव० पृ० १३)

सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय मे डुबा नहीं सकता।

(ध्रुव० पृ० २५)

प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों बराबर है।

(ध्रुव० पृ० ३९)

विधान की स्याही का एक बिन्दु गिर कर भाग्यलिपि पर कालिमा चढ़ा देता है।

(ध्रुव० पृ० ७२)

भारतीय आचार्यों के गुणत्रय को ध्यान में रख कर 'प्रसाद' की भाषा-शैली पर विचार करें तो देखेंगे कि माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों यथास्थान स्थित हैं। 'प्रसाद' जी मधुर और मनोरम शैली का प्रयोग वहाँ करते हैं जहाँ किसी व्यक्ति की कोमल भावनाओं और प्रेमानुभूतियों को व्यक्त करना अथवा रम्य प्रकृति-वर्णन करना उनका अभीष्ट होता है। ऐसे स्थलों पर लेखक का कवि सजग हो उठता है और सम्पूर्ण वर्णन काव्य के मधु से समावृत होकर परम आस्वादनीय बन जाता है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं कल्पना की दुरूहता और अलंकारों के बोझ के नीचे भाषा की सहज माधुरी दब जाती है किन्तु

जहाँ कल्पना और अलंकार एक दूसरे का सहायक होकर रसोद्रेक में तन्मय हो जाते हैं वहाँ भाषा बड़ी पुलकित और आह्लादकारिणी बन जाती है।

उदयन—'तो मागंधी कुछ गाओ। अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि-निःश्वास मेरी कल्पना का आलिङ्गन करने लगे।'

मागन्धी—'वही तो मैं भी चाहती हूँ कि मेरी मूर्च्छना में मेरे प्राणनाथ की विश्वमोहिनी वीणा सहकारिणी हो, हृदय और तंत्री एक होकर बज उठें, विश्व भर जिसके सम पर सिर हिला दे और पागल हो जाय।'

—अजा० पृ० ५५

उपरोक्त अवतरणों में उदयन की भाषा कल्पना की दुरूहता और अलङ्कृति की अतिशयता के कारण जटिल हो गई है किन्तु उन्हीं के उचित उपयोग ने मागंधी की भाषा में मर्म को छूने की चेतना और पाठकों को आत्मविभोर कर देने की क्षमता भी भर दी है।

जहाँ कोमल और कमनीय कल्पनाओं का सयोग प्रवाहपूर्ण इकहरी भाषा से होता है वहाँ तो चित्र-सा खिच जाता है और पठन-मात्र से पाठकों का हृदय स्फूर्ति से स्पंदित हो उठता है।

मातृगुप्त—'उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य्य की सुनहली प्रभा से आलोकित बर्फ का, पीले पोखराज का-सा, एक महल था। उससे नवनीत की पुतली झाँक कर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी।'

—स्कं० पृ० २०

कार्नेलिया—'नहीं चन्द्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल श्रेणी, हरी भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीत-काल की धूप, और भोले कृषक तथा सरला कृषक बालिकायें, बाल्य-काल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमायें हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि,—भारत-भूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं; यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।'

ध्रुवस्वामिनी—'कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन! कितने सन्तोष से भरा था! नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो।......कुमार तुमने वही किया जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भींगती जा रही हूँ।'

—ध्रुव० पृ० ३५

जिस प्रकार 'प्रसाद' के नाटकों में शृंगार रस के साये में करुणा पलती रहती है उसी प्रकार उनकी इस मधुर शैली के स्वर में भी यत्र-तत्र करुणा का स्पर्श ((Pathos) मिलता है। ध्रुवस्वामिनी की ऊपर उद्धृत उक्ति में हम इसे देख पायेंगे।

'प्रसाद' की ओजपूर्ण शैली में बड़ा बल है। 'प्रसाद' के नाटकों में जब कभी हम किसी सेनानी की ललकार सुनते हैं तो लगता है कि प्रलय की आँधी आ गई है, उत्तुंग गिरि-शृङ्ग से प्रपात फूट पड़ा है, पत्थर से अग्नि की चिनगारियाँ निकल रही हैं। छोटे-छोटे वाक्यों से विनिर्मित यह शैली बहुत पौरुषपूर्ण और धारावाहिक है।

विजया—'आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि शिरोमणे!

गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े ! एक बार वह उद्बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्निद्ध हो जायँ !'

'हाँ मातृगुप्त ! एक प्राण बचाने के लिए जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मंडल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट् को खोजते हो। एक नहीं, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ। सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जायं और समुद्र काँप कर रह जाय; अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जग पड़ें।'

—स्क० पृ० १३५

इस ओजपूर्ण शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण पंचनद नरेश पर्वतेश्वर का निम्नलिखित सिंहनाद है।

पर्वतेश्वर—'सेनापति ! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं। इन्हे बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह बज्र बरसे; सारी सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें; परन्तु एक पग भी पीछे हटना परतेश्वर के लिये असम्भव है। धर्मयुद्ध में प्राण-भिक्षा माँगनेवाले भिखारी हम नहीं। जाओ उन भगाड़ों से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने के लिये कहो ! कहो कि मरने का क्षण एक ही है। जाओ।'

—चन्द्र० पृ० ७४-७५

भाव—गौरव, दार्शनिक जटिलता और संस्कृत के संस्कार ने कई स्थानों पर शैली में प्रसाद गुण को उस अर्थ में नहीं आने दिया है

जिसके अनुसार उक्ति सुनते ही पाठकों को अर्थ का बोध हो जाना चाहिए। परन्तु सम्भाषण आदि में हम प्रायः इसे पाते हैं।

विरुद्धक—'मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। मृगया करूँगा! क्षत्रिय कुमार हूँ, चिन्ता क्या है? स्पष्ट कहता हूँ बन्धुल, मैं साहसिक हो गया हूँ। अब वही मेरी वृत्ति है। राज्य-स्थापन करने के पहिले मगध के भूपाल भी तो यही करते थे।'

—अजा० पृ० ८६

भटार्क—'सावधान शर्व! इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते। या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वाग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है। वह जैसे मिलेगा—लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।'

—स्कं० पृ० ५८

सिकन्दर—धन्य हैं आप। मैं तलवार खींचे हुये भारत मे आया, हृदय दे कर जाता हूँ। विस्मय विमुग्ध हूँ। जिनसे खड्ग-परीक्षा हुई उनसे हाथ मिला कर—मैत्री के साथ हाथ मिला कर जाना चाहता हूँ।'

—चन्द्र० पृ० १२१

इन उद्धरणों में न तो अलंकारों का चमत्कार है और न मुहावरों की गुदगुदी किन्तु भाषा अपने सहज रूप में रह कर भी चमत्कृत है।

अंग्रेज आलोचकों ने (मिन्टो आदि ने) शैली के छः गुण माने हैं—सरलता (Simplicity), स्वच्छता (Clearance), प्रभावोत्पादकता (Strength), मर्मस्पर्शिता (Pathos), औचित्य (harmony) और लय (melody)। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है, विषय के गौरव के कारण 'प्रसाद' की भाषा में सरलता को बहुत प्रश्रय नहीं मिला है और अद्धोलिखित संस्कृत उद्धरणों

और अन्तर्कथाओं के कारण कहीं-कहीं स्वच्छता भी कुंठित हो गई है किन्तु अन्य गुण सर्वत्र मिलते हैं और अनेक स्थानों पर तो सभी।

अब हम लेखक के उन साधनों पर विचार करेंगे जिनके सहारे वह अपनी शैली को औचित्य, चमत्कार और गति प्रदान करता है। 'प्रसाद' के अधिकांश पात्र बौद्ध-कालीन दुःखवाद से प्रभावित हैं। वे आश्चर्य और विवशताभरी आँखों से संसार की भीड़ और अर्थ-हीन हलचल को देखते हैं और मन ही मन कुढ़ते हैं। वे संसार की कृत्रिमता से भाग कर प्रकृति की निभृत गोद में छिप जाना चाहते हैं। इन पात्रों की कुढ़न को व्यक्त करने के हेतु जहाँ प्रसाद ने उन्हें भाषा की करुणा दी है वहाँ इनकी पलायनवादी प्रवृत्ति को आश्रय देने के लिए प्रकृति के रूपकों की भी योजना की है। इस लिए उन पात्रों की भाषा में औचित्य और भाव-प्रकाशन की सबलता आ जाती है। बिम्बसार की भाषा का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है (देखिए, पृ० १४८)। और भी,

स्कंदगुप्त—'बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए। चेतना कहती है तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है।'

—स्कं. पृ० १३८

कोमा—'बसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है?'

—ध्रुव० पृ० ३९

'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में परिषद् के अनेक दृश्य हैं।

सभा में बोलते समय सर्वप्रथम भूमिका बाँधनी होती है और सभासदों की नब्ज पहचान कर ढंग से मुख्य विषय पर आना होता है। इसलिए 'प्रसाद' के पात्र ऐसे अवसरों पर प्रशस्ति-वाक्यों के द्वारा भाषण आरम्भ करते हैं, प्रश्नवाचक वाक्यों द्वारा स्थिति की गति पहचान कर आगे बढ़ते हैं और उक्ति वैचित्र्य के सहारे जन-मंडली को अपने अनुकूल बनाते हैं।

अजातशत्रु—'आप लोग राष्ट्र के शुभचिन्तक हैं। जब पिता जी ने यह प्रकांड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैंने किशोर-जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किन्तु बात वैसी नहीं थी। मान्य महोदयों, राष्ट्र में एक ऐसी गुप्त शक्ति का कार्य खुले हाथों चल रहा है जो इस शक्तिशाली मगध राष्ट्र को उन्नत नहीं देखना चाहता। और, मैंने केवल इस बोझ को आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था; आप लोग बतलाइए कि इस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नहीं? या अपने राष्ट्र और सम्राट् को आप लोग अपमानित करना चाहते हैं?'

परिषद्—'कभी नहीं। मगध का राष्ट्र सदैव गर्व से उन्नत रहेगा और विरोधी शक्ति पददलित होगी।'

—अजा० पृ० ८१

प्रख्यात कीर्त्ति—मैं इस विहार का आचार्य्य हूँ, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों मे बौद्धों को माननी चाहिए। मैं जानता हूँ कि भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव रक्षा इसलिए धर्म है। किन्तु जब तुम लोग स्वयं इसके लिये युद्ध करोगे, तो हत्या की संख्या बढ़ेगी ही। अतः यदि तुम में से कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को

छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मण की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइए, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है !

(बौद्धों में से कोई नही हिलता)

प्रख्यात—(हँस कर) यही आपका धर्मोन्माद था ! एक युद्ध-वाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म्म करना और धर्म्मा-चरण की दुन्दुभी बजाना—यही आपकी करुणा की सीमा है ! जाइए, घर लौट जाइए।

—स्कं० पृ० १३३-३४

'चन्द्रगुप्त' नाटक में मालवों के स्कंधावार में होनेवाली युद्ध-परिषद् का भी बड़ा सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। इन दृश्यों के साथ इन पात्रों के वचन-कौशल को देख कर जूलियस सीजर का वह दृश्य याद आ जाता है जहाँ जूलियस की हत्या के उपरान्त बैठने वाली परिषद् में ब्रूटस का उत्तर देने के लिए एन्टोनियो मञ्च पर आता है।

वाक्यों की व्याकरण-सम्मत बनावट मे उलट फेर कर सम्भाषण में जो नाटकीयता लायी जाती है उसकी झलक भी 'प्रसाद' के नाटकों में मिलेगी। उदा०

वीरों ! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान।

—स्कंद० पृ० ४७

आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्यों की दुर्दशा से दुःखी होकर; अब नहीं।

—स्कंद पृ० १३९

खींच ले ब्राह्मण की शिखा !

—चन्द्र० पृ० २८

तब बचे हुए क्षतांगवीर, गांधार को—भारत के द्वार-रक्षक को विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसमें नाम लिखा जायगा मेरे मेरे पिता का !

—चन्द्र० पृ० ४२

मुझे देखने दो ऐसी सुन्दर वेणी—फूलों से गुँथी हुई श्यामारजनी की सुन्दर वेणी—अहा !

—चन्द्र० पृ० ९२

यवनों की जलसेना पर आक्रमण करना होगा, विजय के विचार से नहीं, केवल उलझाने के लिए और सामग्री नष्ट करने के लिए।

—चन्द्र० पृ० ९६

मैं भारत मे हरक्यूलिस, एचलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को।

—चन्द्र० १२१

सन्तुलित वाक्यों* के सहारे भी 'प्रसाद' जी अपनी भाषा मे प्रभावोत्पादकता और चमत्कार लाते हैं। सूक्तियों में हम प्रायः ऐसे ही वाक्य देखेंगे।

मैं तलवार खींचे भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ।

—चन्द्र० पृ० १२१

क्यों अमात्य, जिसकी भुजाओं में बल न हो उसके मस्तिष्क में तो कुछ होना चाहिए।

—ध्रुव० पृ० १०

---

* जहाँ अन्तर्वाक्य (clauses) प्रभावपूर्ण रीति से परस्पर संतुलन करते चलें।

कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति।

—अजा० पृ० १५४

कहीं कहीं आश्चर्य-वाक्यों (epigrams) के द्वारा भी शैली का उत्कर्ष बढ़ा है। उदा०

प्रेम! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश पुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं।

प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमे चूकना और सोच समझ कर चलना दोनों बराबर है।

—ध्रुव० पृ० ३९

भूला हुआ लौट आता है, खोया हुआ मिल जाता है परन्तु जो जान-बूझ कर भूलभुलैया तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है वह उसी चक्रव्यूह में स्वय मरता है और दूसरों को भी मारता है।

—स्क० पृ० ११९

कोमल कल्पनाएँ भी शैली की लाक्षणिकता, मूर्त्तिमत्ता और कमनीयता बढ़ाने में सहायक हुई हैं।

'जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मै सुनूँगा।'

—ध्रुव० पृ० ५३

'अमृत के सरोवर में कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणे उसे चूमने को लोटती थीं, संध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक

देती थी। उस मधुर सौंदर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं वहीं स्वप्न टूट गया !'

—स्कं० पृ० १९

अप्रस्तुतों के सहारे जहाँ लेखक अपने भावों को स्पष्ट और मूर्तिमान करता है वहाँ कहीं-कहीं उनके सहारे अपनी शैली और भाषा को अलंकृत भी करना चाहता है। 'प्रसाद' को पहली चेष्टा में तो खूब सफलता मिली है किन्तु दूसरी में नहीं। कारण यह है कि अलंकृति के अवसर पर 'प्रसाद' का कवि सजग हो जाता है और काव्य के मोह में पड़ कर सारा वर्णन अलंकार-बोझिल गद्य-काव्य बन जाता है।

मंदाकिनी—'नारी हृदय जिसके मध्यविन्दु से हटकर, शास्त्र का एक मन्त्र कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल प्रवर्त्तन-चक्र में घूमने से रोक रहा है।'

—ध्रुव० पृ० ७०

यहाँ मंदाकिनी ने अप्रस्तुत का सहारा ले किस स्पष्टता के साथ ध्रुवस्वामिनी के हृदय विवश व्यग्रता को प्रकट कर दिया है ! जिस प्रकार जब कील चक्की के बीच में न गडकर इधर-उधर पड़ जाती है तो चक्की अपनी धुरी पर नाचती नहीं है उसी प्रकार रामगुप्त के साथ होने वाले विवाह का ध्रुवस्वामिनी के हृदय के प्रेम के साथ योग न होने के कारण उसे वैवाहिक जीवन का स्वाभाविक आनन्द नहीं मिल रहा है।

एक और उदाहरण देखिए :—

देवसेना—'मेरा हृदय मुझ से अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान सुनता ही नहीं। मैं

सब को समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हालकर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।

—स्कं० पृ० १०३-४

यहाँ कलहपूर्ण परिवार के 'रूपक' के सहारे नाटककार ने देवसेना के अन्तर्द्वंद्व को चित्र की भाँति स्पष्ट करके कागज पर रख दिया है।

किन्तु जहाँ अलंकार-बहुलता आ जाती है वहाँ भाषा कुछ बोझिल और क्लिष्ट हो जाती है। उदयन की भाषा का उदाहरण दिया जा चुका है (दे० पृ० १५८)। कुछ और पक्तियाँ लीजिए।

'मल्लिका! तुम्हे मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र लोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठ की रसीली तानें पुकार बन कर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्हाल कर उतारने के लिए, नक्षत्रलोक को गई थीं। शिशिर-कणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बनी थी, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा।'

—अजा० पृ० ६९

इन पंक्तियों में भावनाओं और रूपकों का मेला लगा हुआ है। सम्पूर्ण परिच्छेद एक सुन्दर गद्य-काव्य है। किन्तु मल्लिका के दिव्य सौन्दर्य और सौकुमार्य प्रकट करने के लिए इस प्रकार के रूपकों का प्रयोग जिनमें काफी खींच-तान करनी पडे, नाटक में नहीं होना चाहिए था। नाटक की दृष्टि से यहाँ की शैली अवश्य और अनावश्यक ढंग से क्लिष्ट हो गई है। और क्लिष्टता रस के परिपाक में बाधक होती है।

'कथोद्घात' * के मौलिक प्रयोग के द्वारा भी 'प्रसाद' जी ने अन्य आधुनिक नाटककारों की भाँति कथोपकथन में अभिनयोपयोगी रोचकता और सजीवता लायी है। जैसे,

बिम्बसार—आह, जीवन की क्षणभंगुरता देख कर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है।......मनुष्य व्यर्थ महत्त्व की आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची, किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे सन्तोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या !

छलना—(प्रवेश करके)—और नीचे के लोग वहीं रहें ! वे मानों कुछ अधिकार नहीं रखते ! ऊपर वालों का यह क्या अन्याय नहीं है !

—अजा० पृ० ३५

शर्वनाग—देख, सामने सोने का संसार खड़ा है।

(रामा का प्रवेश)

रामा—पामर ! सोने की लंका राख हो गई।

—स्कं० पृ०

प्रायः कथनोपकथन में वस्तु को आगे बढ़ाने की क्षमता, नाटकीयता और प्रवाह है। जैसे—

गोविन्द०—भद्रे ! तुम अपना स्पष्ट परिचय दो।

विजया—मैं अपराधिनी हूँ।

मातृगुप्त—तुम्हारा और भी कोई परिचय है !—

विजया—यही कि मैं बन्दी होने की अभिलाषिनी हूँ।

—स्कं० पृ० ७९

---

* जहाँ सूत्रधार के शब्द या भाव लेकर कोई पात्र रंग मंच पर उपस्थित हो।

स्कंद—क्यों शर्व ! तुम क्या चाहते हो ?

शर्व—सम्राट ! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, ऐसे नीच के लिए और कोई दण्ड नहीं है।

स्कंद—नहीं मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दण्ड दूँगा, जो वध से भी उग्र होगा ?

शर्व—यही हो सम्राट ! जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कद—परन्तु मैं तुम्हे मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों विच्छुओं के डक की चोट करेंगे।

—स्कंद० पृ० ८३

राक्षस—कौन ? चाणक्य !

चाणक्य—हाँ अमात्य ! राजकुमारी मगध लौटना चाहती है।

राक्षस—तो उन्हे रोक कौन सकता है ?

चाणक्य—क्यों ? तुम रोकोगे।

राक्षस—क्या तुमने सब को मूर्ख समझ लिया है ?

चाणक्य—जो होंगे वे अवश्य समझे जायँगे। अमात्य ! मगध की रक्षा अभीष्ट नहीं है क्या ?

—चन्द्र० पृ० ९९

किन्तु कई स्थानों पर जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है अर्द्धो-लिखित संस्कृत उद्धरणों के कारण शैली में दुर्बोधता आ गई है और उसकी स्वच्छता (clearance) धूमिल पड़ गई है।

छलना—बस थोड़ी-सी सफलता मिलते ही अकर्म्मण्यता ने सन्तोष

का मोदक खिला दिया ! पेट भर गया ! क्या तुम भूल गये कि 'सन्तुष्टश्च महीपतिः' ।
—अजा० पृ० १३१

वररुचि—जिसने 'खयुमघोनामतद्धते' सूत्र लिखा है, वह केवल वैयाकरण ही नहीं, दार्शनिक भी था । उसकी अवहेलना !

चाणक्य—यह मेरी समझ में नहीं आता, मैं कुत्ता, साधारण युवक और इन्द्र को कभी एक सूत्र में नहीं बाँध सकता । कुत्ता कुत्ता ही रहेगा; इन्द्र इन्द्र ।
—चन्द्र० पृ० ३७

यहाँ छलना की बात तब तक स्पष्ट नहीं होती जब तक हम इस सम्पूर्ण श्लोक को जान नही लेते हैं—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टश्च महीपतिः ।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलाङ्गना ॥

ठीक इसी प्रकार चाणक्य और वररुचि के सम्भाषण की संगति तब तक नहीं बैठती जब तक संस्कृत की इस सूक्ति से हमारा परिचय नहीं हो जाता—

काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले ! किमु तत्र चित्रम् ।
अशेषवित्पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ॥

'प्रसाद' की भाषा उनकी मनोदशा (mood) का अनुसरण करती हुई चलती है । अतः जहाँ उनका मन रम जाता है वहाँ भाषा बड़ी तन्मय हो जाती है और जहाँ भाव उनसे बेगार कराता है वहाँ भाषा खुरदरी रह जाती है ।

पर्व०—'आह ! कैसा अपमान ! जिस पर्वतेश्वर ने उत्तरापथ में अनेक प्रबल शत्रुओं के रहते भी विरोधों को कुचल कर गर्व से सिर ऊँचा कर रक्खा था, जिसने दुर्दान्त सिकन्दर के सामने मरण को तुच्छ समझते हुए, वक्ष ऊँचा करके भाग्य से हँसी-ठट्ठा किया था; उसी का यह तिरस्कार !—सो भी एक स्त्री के द्वारा ! और सिकन्दर के संकेत से ! प्रतिशोध ! रक्त पिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोच

रही है! मरूँ या मार डालूँ? मारना तो असम्भव है!.........
इस समय सिंहरण पर हाथ उठाना असफलता के पैरों तले गिरना है।
तो फिर जी कर क्या करूँ?' —चन्द्र० पृ० १११

यहाँ भाषा उखड़ी-सी और मेलोड्रेमेटिक हो गई है। चित्तवृत्ति के न रमने के कारण ही हास्यपूर्ण दृश्यों की भाषा भी ऊभड़-खाभड़ हो गई है।

कहीं कहीं लिंग और वचन की भूलें भी मिलेंगी। जैसे, तेरी (तेरे) ननिहाल में तेरे अपमानित होने की बात मैंने सुनी थी।—अजा० पृ० ६४

प्रत्येक नियमों (नियम) में अपवाद लगा दिये हैं।—अजा० पृ० १०६-७

इस भूमि के (का) एक-एक परिमाणु मेरे (मेरा) हैं (है) और मेरे शरीर के (का) एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के (का) बने (बना) हैं (है)। —चन्द्र० पृ० ४७

परन्तु 'प्रसाद' की भाषा शैली के गुणों के ढेर में ये इनी-गिनी त्रुटियाँ बिलकुल ढँक जाती हैं। 'प्रसाद' जी 'चिन्तना के निर्माण-कार्य में अधिक संलग्न' थे। उन्हे भाषा को अधिक परिष्कृत करने का अवसर न मिला फिर भी जिस रूप में उनकी भाषा हमारे सामने है उस रूप में भी सर्वथा श्लाघ्य है। और ज्यों ज्यों 'प्रसाद' की नाट्यकला ने प्रौढ़ता प्राप्त की त्यों त्यों उनकी भाषा में भी प्राञ्जलता और परिष्कार आता गया। 'सज्जन', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', और 'राज्यश्री' में शैली का आरम्भिक रूप मिलता है। 'विशाख' में उसने राह पकड़ ली है। यहाँ 'प्रसाद' जी की भाषा ने एक निश्चित रूप पकड़ लिया है। भाषा का यही स्वरूप 'अजातशत्रु' और 'स्कंदगुप्त' में मिलता है। 'चन्द्रगुप्त' में भाषा का स्वर अधिक दृढ़ हो गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' तक आते-आते भाषा पूर्ण प्राञ्जल हो गई है। 'कामना' की भाषा भी काफी साफ-सुथरी है।

उद्देश्य

'प्रसाद' जी ने अपनी एक भूमिका में लिखा है कि 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।' इन्हीं पंक्तियों में हम 'प्रसाद' जी के उस उद्देश्य से परिचय प्राप्त कर सकते हैं जिससे अनुप्राणित होकर उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

जयशंकरप्रसाद ने भारतीय जीवन की वर्तमान अधोगति को देखा था और वर्तमान काल की सांस्कृतिक तथा नैतिक समस्याओं का समाधान अतीत के आलोक में पाया था। निवेदन किया जा चुका है कि 'राष्ट्रीय चेतना जो कनवाहा, तरायन, हल्दीघाटी, आदि, की लड़ाइयों में भभक-भभक कर रह गई थी भारतेन्दु काल से ही उद्बुद्ध होने लगी थी। किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति के कारण विद्रोही हृदय से अंगार नहीं बरसे, क्षुब्ध लोचनों से तप्त आँसू ही फूट सके। हृदय की क्रान्ति ने तो 'नीलदेवी' का रूप धारण किया किन्तु प्रकट एवं सामूहिक रूप से वह 'भारत दुर्दशा' की तसवीर खींच कर अखिल देश को अपनी गिरी हुई दशा पर आँसू बहाने को ही आमन्त्रित कर सकी। इधर बम, तोप, गैस, आदि की विभीषिका ने राजपूती तलवार की वाह्य-चमक को भी निष्प्रभ कर दिया था। तेग की तेजी पर नाज करना दुश्वार हो गया। किन्तु एक बात थी; भारतीय वीरता में जो शील और शक्ति का समन्वय था, तरकस के तीर में जो दिल की बुलन्दी थी, तलवार की खन्कार में

जो संस्कृति की झंकार थी उसके समक्ष नृशंस तोपों का तुमुलनाद और बर्बर बमों की गुर्राहट भी श्रीहीन लगती थी। ऐसे ही अवसर पर 'प्रसाद' का प्रकटीकरण हुआ। अतः 'प्रसाद' ने दुनियाँ की आँखों को भारतीय संस्कृति की पुनीत झाँकी दिखाई और प्रसाद की राष्ट्रीयता ने वह रूप धारण किया जो 'विश्व-भावना का विरोधी' नहीं है। संस्कृति की यही ललकार हम 'प्रसाद' के नाटकों की जड़ में देखते हैं। ......आत्म-गौरव, आत्म-निषेध और विश्व-प्रेम भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व हैं। वरुण (करुणालय), प्रेमानंद (विशाख), गौतम (अजातशत्रु), दाण्ड्यायन (चन्द्रगुप्त) मिहिर देव (ध्रुवस्वामिनी), आदि, आचार्यों के सृजन के मूल में इन्हीं तत्त्वों का प्रतिपादन है, और चन्द्रलेखा, कल्याणी, देवसेना, मालविका, मल्लिका और कोमा की निर्मिति की जड़ में इन्हीं तत्त्वों का प्रतिफलन।'[1]

'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में कृष्ण ने अर्जुन को बताया कि विश्व मात्र को एक रूप से देखने से निजत्व और परकीयत्व के दुःख का अनुभव नहीं होता।[2] प्रेमानंद ने उन्मत्त राजा को प्रेम का सन्देश दिया है और उसे 'सत्ता का अपव्यय' करने से मना किया है। गौतम ने उस प्रेम को हृदय की करुणा से सींचा है और बताया है कि 'विश्व-भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र में सम दृष्टि रखती है।' उन्होंने विश्व-प्रेम का मूलमंत्र बताते हुए कहा है कि 'संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यङ्ग है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कटार नहीं। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी

१ देखिए पृ० १६-२०।

२ जनमेजय का नाग-यज्ञ पृ० ७

है।'[1] इसलिए मधुरवाणी और सेवा-भाव से युक्त होकर विश्व के कल्याण के लिए अग्रसर होने का उपदेश दिया है। वासवी जगज्जननी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। वह अपने पारिवारिक स्नेह के सुख को संसार भर में विकीर्ण कर विश्व को अपना कुनबा बनाना चाहती है।

'कुटुम्ब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ। भगवान्! क्या कभी वह भी दिन आवेगा, जब विश्व भरमें एक कुटुम्ब स्थापित हो जावेगा और मानव मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्हालेगे।'

'स्कंदगुप्त' में धातुसेन ने बताया कि 'भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है; अनादिकाल से ज्ञानकी, मानवता की[2] 'ज्योति विकीर्ण कर रहा है।' प्रख्यातकीर्त्ति ने ढोंगी भक्तों की धर्म्मांधता दूर करते हुए हिंसा का निषेध किया है—'मैं जानता हूँ कि भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसलिए परम धर्म है।'[3] भारतीय संस्कृति के आत्मगौरवपूर्ण स्वरूप को सबसे अच्छी तरह महात्मा दाण्ड्यायन ने उपस्थित किया है।

एनि०—देव! जगद्विजेता सिकन्दर ने आपको स्मरण किया है। आपका यश सुनकर आप से कुछ उपदेश ग्रहण करने की उनकी बलवती इच्छा है।

---

१ अजात शत्रु० पृ०

२ स्कंदगुप्त पृ० १२७

३ स्कंदगुप्त पृ० १३२

दाण्ड्यायन—(हँसकर)—भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास मात्र हो जाता है उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते। दूत ! वह किसी बलवान् की इच्छा का क्रीड़ा कन्दुक नहीं बन सकता। तुम्हारा राजा अभी झेलम भी नहीं पार कर सका फिर भी जगद्विजेता की उपाधि लेकर जगत् को वञ्चित करता है। मैं लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नहीं जा सकता।

× × × ×

दाण्ड्यायन—स्वागत, अलक्षेन्द्र ! तुम्हें सुबुद्धि मिले।

सिकन्दर—महात्मन् ! अनुगृहीत हुआ, परन्तु मुझे कुछ और आशीर्वाद चहिए।

दाण्ड्यायन—मैं और आशीर्वाद देने में असमर्थ हूँ। क्योंकि इसके अतिरिक्त जितने आशीर्वाद होंगे वे अमंगल जनक होंगे।

सिकन्दर—मैं आपके मुख से जय सुनने का अभिलाषी हूँ।

दाण्ड्यायन—जय तुम्हारे चारण करेंगे; हत्या, रक्तपात और अग्निकांड के लिए उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं। विजय-तृष्णा का अंत पराभव में होता है, अलक्षेन्द्र ! राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं। इसलिए तुम अपनी प्रजा के कल्याण में लगो।[१]

ईन दोनों अवतरणों मे भारतीय संस्कृति ने पश्चिमीय सभ्यता को ललकारा है, उसे चुनौती दी है। महर्षि दाण्ड्यायन की भाँति मिहिरदेव ने भी कामुक शकराज को निर्भीक सीख दी है और बतलाया है कि—

'राजनीतिं ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के

---

१ चन्द्रगुप्त पृ० ५१-५२, ५४-५५

पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो; जिसका विश्व-मानव के साथ सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षणभर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो। परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सब से बड़ी हानि है। शकराज! दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है।'[1] 'राज्यश्री' में हर्ष और राज्यश्री ने लोक-सेवा और आत्मत्याग का जो आदर्श उपस्थित किया है उसे देख कर चीनी यात्री सुएनच्वांग ने वरदान माँगा था कि 'भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश में सुनाऊँ।'[2] राज्यश्री के शब्दों में लोक-सेवा के लिए राज्य करने का आदर्श 'आर्यावर्त्त की ही उत्तमा श्री है।'[3] इस क्षेत्र में विश्व में भारत का गुरुत्व स्थापित करने के लिए ही सुएनच्वांग का प्रवेश कराया गया है।

शरणागत की रक्षा सदासे भारतीय सस्कृति की अमर विभूति रही है। स्कदगुप्त ने विषम काल में जब उसे स्वयं सहायता की अपेक्षा थी बन्धुवर्मा की रक्षा का भार लेकर क्षत्रियों की दृढ़ परम्परा का सम्यक् निर्वाह किया है, क्योंकि 'शरणागत-रक्षा भी क्षत्रियों का धर्म है'।

वास्तव में संस्कृति और राष्ट्र का नवनिर्माण ही जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों का मूल उद्देश्य है, मूल तत्त्व है। जिस प्रकार उपर्युक्त गुण-त्रय के अभाव में हमारी सस्कृति विकृत हो गयी है उसी प्रकार गृह-कलह, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदि के कारण राष्ट्र दिन प्रतिदिन दुर्बल होता जा रहा है। और जिस प्रकार गौतम, दाण्ड्यायन आदि के सहारे उन्होंने हमें

---

१ ध्रुवस्वामिनी पृ० ५२

२ राज्यश्री पृ० ६७

३ राज्यश्री पृ० ७०

अपनी संस्कृति के भव्य रूप से परिचित कराया है उसी प्रकार राष्ट्र-निर्माण की अनेकानेक योजनाएँ भी हमारे लिए प्रस्तुत की हैं।

राष्ट्र के लिए सबसे अधिक घातक वस्तु गृह-विग्रह है। घर की फूट और आन्तरिक वैमनस्य के कारण ही इस शस्य श्यामला भारत-भूमि पर विदेशियों के पाँव जमे। अतः गृह-कलह-निवारण की समस्या का समाधान उपस्थित करना राष्ट्र-निम्मार्ता का सर्वप्रथम काम है। 'अजातशत्रु' नाटक मे यही समाधान उपस्थित किया गया है। दुर्विनीत राजकुमार और महत्वाकांक्षिणी रानी के कारण मगध के राज-परिवार में जो भीषण परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है उसी का निदान उपस्थित करना लेखक का मुख्य विषय है। अन्त में पश्चात्ताप और क्षमा-दान के द्वारा मगध और कोशल के पारिवारिक जीवन की कटुता का अंत किया गया है। लेखक ने वासवी के इन शब्दों में अपना मंतव्य व्यक्त किया है।

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में।
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में॥
बन्धुवर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर।
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर॥

गुप्तकाल में जो देश की दयनीय दशा हो रही थी उसके कारण को दण्डनायक ने समझा था और इसलिए देश को भूलकर आपस में झगड़ने वाले नागरिकों को चेतावनी देते हुए कहा था—

'नागरिक गण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो!'[1]

---

१ स्कंद पृ० १२१

आज भी हमारी यही दशा है। हम छोटी-छोटी बातों के लिए आपस में झगड़ते रहते हैं, अपने वैयक्तिक मतभेदों को सुग्गे की भाँति दिल में पालते रहते हैं और यह नहीं देखते कि हमारे क्षुद्र स्वार्थों के कारण, हमारे झूठे दम्भ के कारण, देश और जाति का संहार हो रहा है। 'विपत्ति की प्रलय-मेघमाला' के बीच घिरे हुए आर्य्यावर्त के लिए बंधुवर्मा के द्वारा उज्जयिनी के विस्तृत राज्य का दान दिलाकर नाटक-कार ने हमें देश के लिए उत्सर्ग करना सिखाना चाहा है।

साम्प्रदायिकता और अंधविश्वास भी हमारी राह रोके खड़े हैं। हम धर्म की आत्मा को नहीं देखते। हम देखते हैं उसके बाहरी रूपों को, उपासना की विधि को। सभी सम्प्रदायवाले अपने मूल को भूल बैठे हैं, और अपने को औरों से पृथक समझ कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए दूसरों को नीचा दिखाना चाहते हैं। इससे कटुता बढ़ती है, कलह बढ़ता है। राष्ट्र दुर्बल पड़ता है और शत्रुओं की बन आती है। वे एक की पीठ पर हाथ रख कर दूसरे को उदरस्थ करने लगते हैं। 'स्कंदगुप्त' में विहार के समीप चतुष्पथ में ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच जो मुठभेड़ हो गई है वह उनकी अल्पज्ञता और धर्मान्धता का द्योतक है। प्रख्यातकीर्ति उन्हें इस अल्पज्ञता से परिचित कराता है और प्रगतिशील धर्म की व्याख्या करते हुए कहता है—

'सभी धर्म समय और देश की स्थिति के अनुसार, विवृत होते रहे हैं और होंगे। हमलोगों को हठ धर्मी से उन आगंतुक क्रमिक पूर्णता प्राप्ति करानेवाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हमलोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएँ हैं। आओ, हम दोनों अपने उदार विचार के फूलों से दुःख-दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।'[1]

---

१ स्कंद० पृ० १३२-३३

और तब सभी लोग एक साथ बोल उठते हैं—

'ठीक तो है, ठीक तो है। हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं और आततायियों को देखकर घर में घुस जाते हैं। हूणों के सामने तलवारें लेकर इस तरह क्यों नहीं अड़ जाते?'[1]

प्रान्तीयता कुछ कम घातक नहीं है। चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य ने राष्ट्र को सबल बनाने के लिए चन्द्रगुप्त को प्रान्तीयता की सकीर्णता को दूर कर देने का आदेश दिया है।

'तुम मालव हो और यह मागध; यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परंतु आत्म-सम्मान इतने से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पद दलित होंगे।'[2]

'ध्रुवस्वामिनी' में यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि राष्ट्र-रथ के दो चक्र हैं—पुरुष और नारी। जिस प्रकार दोनों पहियों के समान रहने पर ही रथ अपने मार्ग पर सहजगति से चलता है उसी प्रकार पुरुष और नारी दोनों के समान रूप से सुशिक्षित, स्वातंत्र्यप्रिय और जाग्रत रहने पर ही राष्ट्र पनप सकता है और अपने गौरव तथा अधिकार को लौटा सकता है। जब तक हम स्त्रियों को पशु-सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करते रहेंगे तब तक हम एकांगी और दुर्बल रहेंगे। अतः नारी स्वातंत्र्य राष्ट्रकी एक समस्या है। इसी नारी-स्वातंत्र्य की नवीन भावना से इस नाटक की रचना उत्प्रेरित

---

१ स्कंद० पृ० १३३

२ चन्द्र० पृ० ६

है। भारत की लक्ष्मी के प्रति युग-युग से किये जाने वाले अत्याचारों की प्रतिक्रिया ध्रुवस्वामिनी में हुई है।

'……पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझ कर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेंच भी नहीं सकते हो।'[1]

'मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीलमणि नहीं हूँ। मुझ में रक्त की तराल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है।'

आज संसार में नारी-जागरण का स्वर्ण-विहान आया है किन्तु भारत की ललनाएँ अब भी सोयी हैं। इसका कारण यह है कि युग-युग से पददलित होने के कारण उनमें एक प्रकार का हीन-परिज्ञान (inferiority complex) आ घुसा है।

'पराधीनता की एक परम्परा-सी उनकी नस-नस में—उनकी चेतना में न जाने किस युग से घुस गई है। उन्हें समझ कर भी भूल करनी पड़ती है।'[2]

अतः उनकी मनोवृत्ति को बदलने की आवश्यकता है। जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण रखना और अपने पैरों पर खड़ा होकर अपना सुख, अपना गौरव और अपनी समृद्धि लौटा लेना वे ध्रुवस्वामिनी से ही सीख सकती हैं। जिस भू-खण्ड में ध्रुवस्वामिनी सी वीर रमणी हो उसका एक नहीं शत-सहस्र शकराज भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

---

१ ध्रुव० पृ० २१।

२ ध्रुव० पृ० ६७।

बहु-विवाह, बेमेल-विवाह, विधवा-विवाह, आदि के सम्बन्ध में उचित व्यवस्था न होने के कारण भी हमारा जीवन जर्जर हो रहा है। 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में यथासम्भव इन प्रश्नों पर भी विचार किया है।

अजातशत्रु नाटक के बिम्बसार ने दो विवाह किये हैं और उनके दामाद उदयन ने तीन। बहु-विवाह की इस प्रणाली की कटु आलोचना वसन्तक और जीवक के नीचे लिखे हुए कथनोपकथन में की गई है।

वसन्तक—......श्वसुर ने दो ब्याह किये, तो दामाद ने तीन। उन्नति ही रही।

जीवन—दोनों अपने कर्म के फल भोग रहे हैं।[1]

इसी प्रकार बेमेल-विवाह पर व्यङ्ग करते हुए वसन्तक ने जीवक से निवेदक किया कि—

'......महाराज ने एक नई दरिद्र कन्या से ब्याह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते बुद्धि का अजीर्ण हो गया है। महादेवी देवीदत्ता और पद्मावती जीर्ण हो गई हैं, तब कैसे मेल हो! क्या तुम उन्हें अपनी औषध से उस विवाह करने की अवस्था का नहीं बना सकते, जिसमें, महाराज इस अजीर्ण से बच जायँ![2]

आज पश्चिमीय देशों में तलाक की धूम है। बात बात में तलाक दे दिया जाता है। इसके कारण वहाँ का दाम्पत्य जीवन बड़ा अशांत और विषाक्त हो गया है। यह बुरा है। किन्तु उससे भी बुरा है मोक्ष-प्रथा का सर्वथा अभाव जिसके कारण कितनो का आह्लादपूर्ण जीवन

---

१ अजा० पृ० ६२।

२ अजा० पृ० ६१-६२।

सदा के लिए जड़ बन जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में पुनर्लग्न की व्यवस्था का उचित प्रयोग बताया गया है।

पुरोहित—'विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रांतिपूर्ण बंधन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पद-दलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते; परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है। और भी (रामगुप्त को देख कर) यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-किल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।'[1]

समाज के प्रत्येक व्यक्ति को कर्मशील होना चाहिए क्योंकि अकर्मण्यता घुन की भाँति समाज के प्राण को चाट जाती है। इसलिए कर्म का संदेश हम 'प्रसाद' जी के प्रत्येक नाटक में पायेंगे। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में कृष्ण ने अर्जुन को कर्म का उपदेश दिया है। विशाख ने जब सन्यास लेने का विचार किया तब प्रेमानंद ने उसे मना किया और कहा कि जिस प्रकार पराग आने पर फूल स्वयं खिल उठता है उसी प्रकार हृदय के विकसित होने पर आन्तरिक इच्छा स्वयं उठ खड़ी होती है। उस पर किसी प्रकार के कार्य-क्रम का दबाव डालना उचित नहीं। विशाख ने शका की कि तब तो कर्म का कोई महत्व नहीं और प्रेमानंद ने शंका का समाधान करते हुए बताया कि मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में कर्म करते रहना चाहिए, क्योंकि उससे विकास का मार्ग प्रशस्त होता है और सफलता शीघ्र मिलती है। 'अजातशत्रु' में यह बताया गया है कि अपने किये हुए कुकर्मों के लिए पश्चात्ताप करना

---

१ ध्रुव० पृ० ७७-७८

भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो हो चुका वह लौटाया नहीं जा सकता। अतः पुण्य-कार्यों के द्वारा अपने किए हुए कुकृत्यों का प्रायश्चित्त करना ही उचित है। इसलिए चरणों में प्रणत प्रसेनजित् को प्रबोधन देती हुई मल्लिका ने कहा कि—

'अतीत के वज्र-कठोर हृदय पर जो कुटिल रेखा-चित्र खिंच गए हैं वे क्या कभी मिटेंगे? यदि आपकी इच्छा है तो वर्त्तमान में कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खींचिए, जो भविष्य में उज्ज्वल हो कर दर्शकों के हृदय को शान्ति दे।'[1]

'प्रसाद' ने नियति को माना है। आज के इस विषम युग में, जब हमारी परिस्थितियों पर हमारा अधिकार नहीं है, किसी का भी भाग्यवादी हो जाना स्वाभाविक ही कहा जायगा। किन्तु 'प्रसाद' का नियतिवाद निराशावाद नहीं है, वरन् वह कर्म को उत्तेजना देने वाला स्वस्थ तत्त्व है।

बिम्बसार—'क्या अदृष्ट सोच कर, अकर्मण्य बन कर, तुम भी मेरी तरह बैठ जाना चाहते हो?'

जीवक—'नहीं महाराज! अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़ कर निर्भय कर्म्म-कूप में कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूँ—कर्म से क्यों विरक्त रहूँ......।'[2]

'ध्रुवस्वामिनी' मे मन्दाकिनी के गीत के सहारे कर्मपथ के कर्मशील 'अथक पथिक' को सबकुछ झेल कर आगे बढ़ने का आदेश दिया गया है।

'यदि दुःख के बादल उमड़ रहे हों, वज्र-पात हो रहा हो तथा

---

१ अजा० पृ० ११५

२ अजा० पृ० ४७

पतली घाटियों से बहने वाले पहाड़ी झरनों के समान पग-पग पर कठिनाई का घना जाल बिछा हो, तो भी कर्मवीर दुर्दिन के बादलों को पैरों तले रौंदता हुआ, क्रीड़ा के उपकरण की भाँति बिजलियों से खिलवाड़ करता हुआ तथा कठिनाइओं को पार करता हुआ अपने कर्म-पथ पर बढ़ता ही जायगा। आँधी आने के पूर्वकी स्तब्धता में सर्वगामी पवन की गति रुक जाय, सांस घुटने लगे और तूफ़ान आने पर बड़े-बड़े सघन-सबल वृक्ष भी धराशायी होकर पैरों पर लोट जायँ किन्तु अदम्य उत्साह और अथक परिश्रम का संबल लेकर चलने वाला पंथी न तो कष्ट के आगमन की आशंका से विचलित होगा और न कष्ट-काल आने पर कर्त्तव्य से मुख मोड़ेगा।

'नश्वर शरीर (छाया का पुतला) की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य अपने सुकार्यों के द्वारा संसारवालों की आंखों का तारा बनकर रहे। संसार वाले उसे आदर दें और वह गुमराहों को सही राह बतावे। कर्मवीर के हृदय में आत्म-निर्भरता होनी चाहिए और उसे अपने पाँवों पर विश्वास होना चाहिए। जिस प्रकार अन्धकार में दीपक के सहारे हम अपनी इच्छित वस्तु पा लेते हैं उसी प्रकार निराशा के अन्धकार में, जब वह अपने डगर पर अकेला ही छूट जाता है, कर्मवीर घबराता नहीं और आशा तथा विश्वास के आलोक में अपने वतन की राह ढूढ़ ही लेता है। आशा और विश्वास सदा उसके साथ रहते हैं। वह परमुखापेक्षी नहीं होता। अपने कर्त्तव्यों से वह अपने जीवन और चरित्र का निर्म्माण करता है। वह स्वयं अपना स्रष्टा है। दुःखों को धूल की भाँति पैरों तले रौंदता हुआ, विघ्न-बाधाओं को ढकेलता हुआ और हँस-हँस कर कठिनाइओं का सामना करता हुआ वह अपने मार्ग पर बढ़ता जाता है।

'शूरों के लिए जीवन-युद्ध के शूल फूल के समान हैं और वेदना अन्धेरी रात में पथ दिखाने वाले तारों के सदृश है क्योंकि दुःख से मनुष्य बहुत कुछ सीख लेता है। जीवन में विध्वंसकारी दृश्य उपस्थित हो; प्रलय का ताण्डवनृत्य हो रहा हो; विनाश-संगीत के सम में सातों स्वर लयमान हो रहे हों; सभी दिशाओं में भयंकर गर्जन हो रहा हो; काली रात की डरावनी सूरत भी डर कर काँप रही हो; परिश्रम-जन्य पसीना कपिशा नदी की मोटी धारा का रूप धारण कर बह रहा हो किन्तु सच्चा सूरमा तब भी पीठ नहीं दिखायगा। चाहे अचल कहाने वाले भूधर का आसन डोल जाय किन्तु कर्मवीर अपनी लीक से उतर नहीं सकता। चाहे सुख-शृंगार के सभी साधन निठुर बन कर दूर हो जायँ किन्तु अपनी भुजाओं की शक्ति पर भरोसा रखने वाले विश्वासी सैनिक की ललकार विह्वल रुदन में परिणत नहीं हो सकती। वह शंकर का नवीन वेश धारण कर वेदना का घूँट पीकर अपने को अमर बनाता हुआ तथा आराम और चैन को तिलाञ्जलि देता हुआ अपने कर्म-पथ पर बढ़ता ही जाता है।'[1]

स्कंदगुप्त जब असमय की विरक्ति के बीच शिथिल पड़ने लगता है और प्रश्न करता है कि अधिकार का उपयोग क्यों करें तो पर्णदत्त उसे कर्म की सीख देते हैं।

---

१ पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बेमेल चले
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे
तब भी गिरिपथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब झेल चले
पृथ्वी की आँखों में बनकर, छाया का पुतला बढ़ता हो
सूने तम में हो ज्योति बना, अपनी प्रतिमा को गढ़ता हो

पर्णदत्त—'किसलिए ? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्य्यादा में विश्वास के लिए, आतंकित प्रकृति को आश्वासन देने के लिए आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा।'[1]

जब स्कंदगुप्त अपने को अकेला अनुभव कर एक बार फिर ढीला पड़ने लगता है तो कमला कहती है—

'कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। यदि भविष्यत से डरते हो कि तुम्हारा पतन समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्नस्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान

पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ठुकराता-सा
कष्टों पर कुछ मुसक्याता सा, ऊपर ऊँचे सब झेल चले
खिलते हों क्षत के फूल वहाँ, बन व्यथा तमिश्रा के तारे
पद-पद पर ताण्डव-नर्तन हो, स्वर सप्तक होवें लय सारे
भैरव रव से हो व्याप्त दिशा हो काँप रही भय चकित निशा
हो स्वेद धार बहती कपिशा ऊपर ऊँचे सब झेल चले
विचलित हो अचल न मौन रहे, निष्ठुर शृंगार उतरता हो
क्रन्दन कंपन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो
अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नीलकंठ की छाप किये
विश्राम शान्ति को शाप दिये, ऊपर ऊँचे सब झेल चले

—ध्रुव० पृ० ३९-४०

१ स्कंद गुप्त पृ० ४

क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कंद ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोनेवालों को जगाओ, और रोनेवालों को हँसाओ।'[1]

कर्म करके अपने को सबल बनाना, उच्चादर्शों के द्वारा संस्कृति के झंडे को ऊँचा रखना, संस्कृति और देश के लिए जीना और 'धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना' हमारे जीवन का उद्देश्य था और आज भी होना चाहिए। इसी उद्देश्य को उपस्थित करने के लिए दाण्ड्यायन, सुएनच्वांग, आदि को उपस्थित किया गया है यद्यपि उनकी कथाओं का नाटक के कथानकों से सीधा सम्बन्ध नहीं है। यूनान और चीन के समक्ष भारतीय संस्कृति की महानता सिद्ध करने के लिए इन दृश्यों की योजना हुई है। देश प्रेम और संस्कृति-रक्षा के विचार से प्रभावित होने के कारण ही लेखक ने अपने प्रधान पात्रों को पूर्ण मानव बनाया है, जिसके कारण कुछ लोगों की नजर में वे अस्वाभाविक लगते हैं। देश-प्रेम विश्व-प्रेम का आधार है। इसीलिए 'प्रसाद' जी ने द्विजेन्द्र लाल के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय स्नेह-सम्बन्ध से देश-प्रेम को ही अधिक प्रधानता दी है। उनके अधिकांश गीत देश प्रेम के उद्‌बोधन गीत हैं। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, बन्धुवर्मा, स्कंदगुप्त हमारे देश-प्रेमी नेता हैं और देवकी, देवसेना, अलका आदि भारत के गौरव की रक्षा करने वाली आर्य ललनाएँ।

---

१ स्कंद गुप्त पृ० १४१

नाट्यकला

'प्रसाद' जी अपने युग के स्रष्टा थे। युग-प्रवर्तक लेखक का एक पाँव प्राचीनता की जमी भूमि में होता है और दूसरा नवीता की खोज में। अतः 'प्रसाद' जी की कला मे भूत का संस्कार है और वर्त्तमान की प्रेरणा है, विगत के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास है और आगत के प्रति ईमानदार आग्रह। जिस प्रकार प्राचीन इतिहास के गौरवपूर्ण स्थलों के साथ सघर्षपूर्ण वर्त्तमान की समस्याओं का योग कर उन्होंने अपनी व्यापक मौलिकता का परिचय दिया है उसी प्रकार भारतीय नाट्यपद्धति के आदर्शवाद के साथ पश्चिम की आधुनिक नाट्यशैली की यर्थाथता का मेल कर हिन्दी साहित्य में अभिनव नाट्यकला का नवीन गवाक्ष खोला है।

जयशंकर 'प्रसाद' मौलिक साहित्यकार मात्र न थे। वे प्रकांड पंडित भी थे। एक ओर अपने नाटकों के दृढ़ आधार के लिए उन्होंने भारत के इतिहास का गम्भीर एव विस्तृत अध्ययन किया था और दूसरी ओर अभिव्यक्ति के रूप के लिए पूर्व तथा पश्चिम के प्राचीन एवं नवीन नाट्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों का अनुशीलन किया था जिसका प्रमाण उनकी 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' नामक पुस्तक है। और जिस प्रकार आधुनिकता से अनुप्राणित होने पर भी उनके नाटकों का आधार सांस्कृतिक है उसी प्रकार पाश्चात्य रचना-शैली से मंडित होने पर भी उनकी टेकनीक की आत्मा भारतीय है। एक ओर उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों का मौलिक तथा नवीन प्रयोग किया है

और दूसरी ओर पाश्चात्य सिद्धान्तों को ऐसा आत्मसात कर लिया है कि लगता है मानों वे हमारी परम्परा के हों। रवि बाबू के सम्बन्ध में कही गई निम्न पंक्तियाँ 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में पूर्णरूप से लागू होती हैं।

'वे बाहर के फूलों से मधु ले अपने घर का शृंगार कर रहे हैं। उनके स्वर और अन्तर स्वदेशी हैं।'[1]

हिन्दी साहित्य में मौलिक नाटकों का श्रीगणेश करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक रचना[2] के सम्बन्ध में निवेदन किया था कि—

'प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध मे तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक-मडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गये हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

'जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करे और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय गण की अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है।

'नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति

---

1. He is culling honey from foreign flowers to enrich his home ; but is quite national in tone and spirit.

H. P.

२ विस्तृत विवेचन के लिए हमारी पुस्तक 'भारतेन्दु की नाट्यकला' पढ़िए।

ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब ग्रहण होंगी।

'अब नाटकों में कहीं 'आशीः' (क) प्रभृति नाट्य लकार, कहीं 'प्रकरी' (ख), कहीं 'विलोभन' (ग), कहीं 'सम्फोट' (घ), 'पंचसंधि, (ङ), वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं बाकी रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक मे उसका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रख कर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उलटा फल होता हैं और यत्न व्यर्थ जाता है।'[1]

'प्रसाद' जी ने भारतेन्दु जी के उपर्युक्त 'समन्वय' का उल्लेख करते हुए उसका एक उद्‌बुद्ध और परिष्कृत रुप इन पक्तियों में उपस्थित किया है।

'युग की मिथ्याधारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में, इब्सनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पशिचम ने नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम विकास कैसे किया जा सकता है यदि हम पश्चिम के आज को ही सब जगह खोजते रहेंगे? और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों के सोचने, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है? अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य मे ठोस अपनी वस्तु का निमंत्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए।

---

१ नाटक, पृ० १३–१४

कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करनेवाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्दबाजी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता का ही आकर्षण है, जो नाटक के सम्बन्ध मे विचार करनेवालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है, किन्तु अधिक उछलने में पद-स्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किन्तु इतना ही अलम् नहीं। जब हम समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुकरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देख कर ही भविष्य का निर्माण होता है; इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिसतरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों मे लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय की भी; देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमच संग्रहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर नये को नहीं पाया है।'[1]

इस समन्वय का शिलान्यास करते समय भारतेन्दु जी के ध्यान को बाह्यरूप ने अधिक आकृष्ट किया था। 'प्रसाद' जी ने 'रयि' और 'रूप' दोनों को ध्यान में रक्खा है। उन्होंने शरीर और आत्मा, कला की पदार्थनिष्ठता (objectivity) और अधिकरणनिष्ठता (subjectivity) दोनों के आदर्शों को हृदय में रखकर अपनी स्वतन्त्र नाट्य-प्रणाली का विधान किया है। इस प्रकार भारतेन्दु युग में जो शेष रह गया था उसी की पूर्ति 'प्रसाद' जी में हुई है।

भारतीय आचार्यों ने नाट्यांगों का विस्तृत विवेचन किया है।

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ७४

विश्वनाथ के अनुसार नाटक की वस्तु प्रख्यात (Traditional) होनी चाहिए। पाँच सधियाँ रहनी चाहिए। पांच से दस तक अक हों। उसका नायक प्रख्यात वंश का धीरोदात्त, वीर्यवान्, गुणवान् आदि होना चाहिए। शृगार अथवा वीर रस को प्रधान स्थान मिलना चाहिए। हाँ निर्वहण में अद्भुत को रहना चाहिए।[1]

इस प्रकार सस्कृत नाटक के तीन अग माने गए है। वे हैं वस्तु, पात्र और रस। अरस्तू ने भी नाटक के छः अगों (वस्तु, पात्र, कथन-शैली, भावावेग, साज-सज्जा और सगीत) में वस्तु, पात्र और भावावेग को ही मुख्य माना है।[2]

---

१ नाटक ख्यातवृत्त स्यात्पञ्चसधिसमन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नाना विभूतिभि. ॥
सुखदु खसमुद्भूति नाना रसनिरन्तरम्।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यात वशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवन्नायकोमतः ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।
अङ्गमन्ये रसा सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृत पूरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमाग्र तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥

—साहित्यदर्पण

2. Every tragedy, therefore, must have six parts, which parts, determine its quality—namely, Plot, Character, Diction, Thought, Spectacle, Song.

—Poetics, P. 25.

वस्तु के दो भेद हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। अधिकारिक कथानक मुख्य है क्योंकि उसे नायक के फल की प्राप्ति का अधिकार प्राप्त है।[1] प्रासंगिक कथानक का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु को फलप्राप्ति में सहायता देना और उसकी शोभावृद्धि करना है।[2] कथावस्तु को चरम उद्देश्य तक पहुँचाने में पाँच प्रकार के चमत्कारपूर्ण अंशों (elements of plot) का प्रयोग करना पड़ता है जिन्हें अर्थ-प्रकृति कहते हैं। वे हैं बीज,[3] विन्दु,[4] पताका,[5] प्रकरी[6] और कार्य,[7]। इन्हीं के अनुरूप कार्य की भी पाँच अवस्थाएँ (stages of development) हैं—आरम्भ[8]. प्रयत्न[9], प्राप्त्याशा[10], नियताप्ति[11] और

१ अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारीच तत्प्रभुः।

तन्निवर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादधिकारिकं।

२ प्रासगिकं परा।र्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः।

३ स्वल्प मात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति, फलावसानं।

४ प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य ॥

५, ६ सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्

७ यदाधिकारिकं वृत्तं तदर्थो य· समारंभः॥

८ औत्सुक्य मात्रमारंभो फललाभाय भूयसे।

९ प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।

१० उपायापायशङ्काभ्या प्राप्त्याशा प्राप्ति संभवः।

११ अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।

The plot is, then, the first principle and, as it were, the soul of tragedy; character holds the second place.

The third in order is thought.

—Poetics, P. 25.

फलागम[1]। इन्हीं के समानान्तर पाँच संधियाँ हैं जिनमें ऊपर-निवेदित अर्थप्रकृतियों और कार्य की अवस्थाओं का क्रमगत परस्पर मेल होता है। अभिनय (Stage-direction) की दृष्टि से वस्तु के दो भेद होते हैं—दृश्य और सूच्य। जो बातें रसोद्रेक की क्षमता रखती हैं उनका प्रदर्शन होता है और जो बातें रसहीन और अनुचित हैं उनकी केवल सूचना दे दी जाती है। सूच्य विषयों में लम्बी यात्रा, वध, युद्ध, राज्य या देश-विप्लव, नगर का घेरा, भोजन, स्नान, चुम्बन, अनुलेपन और मृत्यु की गणना होती है। नायक या नायिका की मृत्यु न तो दिखलानी चाहिए और न उनकी सूचना ही देनी चाहिए।

सारी दृश्यवस्तु पाँच से दस अंकों तक में विभाजित रहती है। एक अंक में, यदि हो सके तो, एक दिन की घटना रहे और यदि यह सम्भव न हो तो वस्तु यथासम्भव संक्षिप्त हो। एक अंक दूसरे अंक से सम्बद्ध रहे। एक घटना दूसरी घटना से स्वाभाविक रूप में निकले। दो अंकों के बीच में एक वर्ष की अवधि निहित रह सकती है। इस काल के भीतर की घटनाओं की सूचना वस्तु के पाँच प्रकारों (विष्कभक[2], प्रवेशक[3], चूलिका, अकास्य और अंकावतार) द्वारा दी जाती है।

नाटकीय कथावस्तु के तीन और भेद हैं—श्राव्य, अश्राव्य (Soliloque) और नियत श्राव्य (Aside)।

---

१ समग्रफल संपत्तिः फलयोगो यथोदितः।

२, ३ वृत्त वर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः॥
अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तु विस्तरम्।
यदा संदर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कंभकं तदा।
तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्र प्रयोजितः
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः॥

नाटक के आरम्भ में कुछ कृत्य होते हैं जिन्हें पूर्वरंग या प्रस्तावना (Prelimnary or Prologue) कहते हैं। नान्दी-पाठ के साथ कार्यारम्भ होता है। सूत्रधार नाटक की सूचना देता है। उसके निवेदन के तीन ढंग हैं—कथोद्घात, प्रवृत्तक और प्रयोगातिशय।

अरस्तू के अनुसार भी वस्तु संक्षिप्त होनी चाहिए। उसकी लम्बाई लगभग एक दिन की हो। उसकी गठन चुस्त हो। कथानक मे एक भी घटना ऐसी न हो जिसके निकाल देने से गल्प अपूर्ण न हो जाय। घटनाएँ कार्यकारण रूप में आबद्ध हों। वस्तु के विकास में आदि मध्य तथा अन्त का बोध होना चाहिऐ।[1]

इस प्रकार भारतीय आचार्यों के सिद्धान्तों और अरस्तू के विचारों में बड़ा साम्य है।[2] यह समता इतनी सघन है कि इसे देख कर कितने

1. Tragedy endeavours, so for as possible, to confine itself to a single revolution of the sun or but slightly to exeed this limit.

—Poetics, P. 23.

Now according to our definition, tragedy is an imitation of an action that is complete, and whole and of a certain magnitude......A whole is that which has a beginning, a middle and an end.

—Poetics, P. 31.

......the plot being the immitation of action must be such that if one of them is displaced or removed the whole will be disjointed and disturbed. For a thing whose presence or absence makes no visible difference is not an organic part of the whole.

—Poetics, P. 35.

२. इस साम्य को हमलोग चरित्र-चित्रण और रस के प्रकरण मे भी देखेंगे।

लोग[1], जो इस साम्य के अन्तर में झाँक नहीं सके, यह कहने लगे थे कि भारत की नाट्यकला यूनान की देन है।

यूनान यूरोप की कलाओं का जन्मदाता है। नाट्यकला के सम्बन्ध में भी यही कहा जायगा। यह सही है कि एलीजावेथ के युग के नाटककारों ने अरस्तू के कुछेक नियमों की अवहेलना की है। समय और स्थान के प्रतिबन्ध को उन लोगों ने नहीं माना है। उनकी वस्तु अपेक्षाकृत अधिक जटिल होती थी। किन्तु आज युग ने फिर पलटा खाया है और समय या स्थान रक्खा जाने लगा है।[2] कोरस के कार्य की सिद्धि के लिए नाटक के आरम्भ में एक परिचयात्मक अंश जोड़ दिया जाता है। हाँ, स्वगत-कथन को दूर करने की भरसक कोशिश की जाती है। उसके लिए प्रधान पात्रों के अतरंग मित्रों अथवा विश्वास पात्रों की योजना कर दी जाती है। कुछेक नाटकों में टेलेफोन, पालतू कुत्ते, बिल्ली, पक्षी आदि के सहारे स्वगत-सम्भाषण का कार्य कराया जाता है। इतना होने पर भी इब्सन, बर्नार्ड

---

1. Windisch, Hermann Reich आदि।

2. — the modern dramatist seldom takes these Elizabathen liberties with time and place. The fascination of form has grown stronger, by spreading the action over years we feel that the tension of a place is weakened and that the magic cauldram goes of the boil Let too many years pass over a person's head and he is no longer quite the same person.

— Tragedy (F. L. Lucas) P. 79.

शा आदि के नाटकों में स्वगत्-कथन के दर्शन कहीं-कहीं हो ही जाते हैं क्योंकि यह जीवन की वास्तविकता है।[1]

इस भाँति हमलोग देखेंगे कि भारतीय और पश्चिमीय नाटकों में आकार का उतना अन्तर नहीं है जितना प्रकार का, वाह्य का उतना भेद नहीं है जितना अन्तर का। भारतीय आदर्शवादी हैं और युरोपीय यथार्थवादी। भारत ने सृष्टि के आरम्भ से ही आनन्द और विकास के सभी साधन पाये और युरोप को आरम्भ से ही जीवन के संघर्ष का कटु घूँट पीना पडा। अतः भारतीय नाटकों का इष्ट आनन्द की प्राप्ति है और युरोपीय नाटकों की जड़ में सघर्ष का विषादपूर्ण चित्रण। इसलिए भारत और युरोप के नाटकों में जो मौलिक अन्तर है वह सस्कृति का अन्तर है।[2,3] भारतीय आचार्यों ने नाटक को अनुकृति माना है और पश्चिमीय कलाविदों ने भी; किन्तु भारत में यह अनुकृति अवस्थानुकृति (imitation of certain conditions or Situation) है जब कि युरोप में यह अनुकृति व्यापरानुकृति (imitations of action) है। इसलिए अभीष्ट की प्राप्ति के आधार पर यहाँ वस्तु के पाँच विभाग, *आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम*, किये गये हैं और यूरोप में संघर्ष को ध्यान में रखकर कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ— आरम्भ (exposition or initial incident), विकास (Growth or rising action) चरमसीमा (Climex), निर्वहरण अथवा निगति (Denouement) और परिणाम (Cetastrophe)—मानी गई हैं।

१ 'प्रेसकटिंग' (बर्नार्ड शा) के जेनेरल मिचरन के स्वगतकथन आदि इसके प्रमाण हैं।

२ इस विषय पर रवि बाबू ने एक सुन्दर निबंध लिखा है।

3. The dectrine that drama is an imitation does

'कामना' और 'एक घूँट'[1] को छोड़ कर प्रसाद के अन्य नाटक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक हैं[2]। अतः उनकी कथावस्तु प्रख्यात हैं[3]। 'राज्यश्री', 'विशाख' और 'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक प्रायः सरल हैं और दूसरे नाटकों के कुछ जटिल। इन नाटकों में प्रासंगिक कथाओं के अनेक स्रोत बहते रहते हैं। इतिहास-प्रियता, हास्य-योजना तथा रोमास-रचना के कारण कहीं परिहार्य घटना आ गई हैं[4] किन्तु अधिकांशतः ये प्रासगिक कथाएँ मूल कथानक को फलप्राप्ति तक पहुँचाने मे सहायक होती हैं। कुछ घटनाएँ मूल वस्तु के अनुकूल होती हैं और कुछ प्रतिकूल जो आरम्भ में जटिलता उत्पन्न कर अन्त में फिर अनुकूल बन जाती हैं। 'विशाख' में प्रेमानन्द की कहानी अनुकूल है और सत्यशील तथा नरदेव की कथाएँ प्रतिकूल। चैत्य-पूजा के अवसर पर प्रेमानंद की उपस्थिति, प्रजाका विद्रोह तथा प्रेमानद द्वारा नरदेव की रक्षा, आदि अनुकूल घटनाएँ मूल वस्तु को फलप्राप्ति की ओर बड़े वेग से अग्रसर करती हैं। सत्यशील का अनाचार विशाख और चन्द्रलेखा के प्रति-

---

१ इन दोनों की कथावस्तु काल्पनिक है।

२ देखिए पृ० २४

३ देखिए पृ० २४–२५

४ देखिए पृ० ३१–३६

not differ from the dectrine of Mimesis but in the Sastras it is a state or condition, in Aristotle it is action, a distinction absolutely in accord with the different genius of the two people.

—A. B. Keith (The Sanskrit drama).

कूल तो है किन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे (indirectly) अनुकूल भी है क्योंकि उसके कारण विशाख को चन्द्रलेखा के निकट आने का अवसर प्राप्त होता है। नरदेव की ओर से मुख्य विरोध होता है किन्तु प्रजा के विद्रोह के बाद प्रेमानंद के सौहार्द के सम्पर्क में आकर वह विरोध शांत हो जाता है और प्रतिकूलता अनुकूलता का रूप धारण कर लेती है क्योंकि अब नरदेव विश्व-प्रेम के प्रचार में संलग्न हो जाता है और इस प्रकार प्रेमानंद के हाथ मजबूत हो जाते हैं। 'अजातशत्रु' नाटक में अजातशत्रु की क्षमा-प्राप्ति की कथा मुख्य है और उदयन, मागंधी, देवदत्त, गौतम, प्रसेनजित् और मल्लिका की कथाएँ प्रासगिक। गौतम, प्रसेनजित् और मल्लिका की कथाएँ अनुकूल हैं और विरुद्धक, देवदत्त, आदि की कथाएँ प्रतिकूल क्योंकि वे सभी अजातशत्रु को गुमराह करती हैं। गौतम अजातशत्रु को पिता की ओर से राज्य दिला कर उसके हृदय मे आगे आनेवाले पितृ-स्नेह और विश्वजनीन करुणा के हेतु पृष्ठभूमि बनाते हैं। मल्लिका क्षमा और दया का उपदेश दे अजातशत्रु और विरुद्ध की कुप्रवृत्तियों को शात करती है। प्रसेनजित् युद्ध मे हरा कर उनके झूठे दम्भ की व्यर्थता सिद्ध कर देता है। अंत में मल्लिका और वासवी उन्हे फल तक पहुँचा देती हैं। उदयन की कथा प्रतिकूल होकर फिर अनुकूल हो जाती है। मागंधी के षड्यंत्र के कारण वह गौतम बुद्ध और मगध की राजकुमारी पद्मावती के विरुद्ध आचरण करता है किन्तु रहस्योद्घाटन के उपरान्त उसका विरोध तिरोहित हो जाता है। आगे चलकर उदयन और प्रसेनजित् की सम्मिलित सेना अजातशत्रु को हरा देती है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में चन्द्रगुप्त की राज्य-प्राप्ति और भारत की रक्षा मुख्य कथा के अन्तर्गत हैं। चाणक्य, शकटार सिंहरण दाण्ड्यायन,

अलका, आदि की कथाएँ प्रासंगिक किन्तु अनुकूल हैं। अपमान का प्रतिकार लेने के हेतु चाणक्य चन्द्र''स की सहायता करता है। सिंहरण के कारण माल्व सेना की सहायता मिलती है। शकटार नंद का बध करता है। दाण्ड्यायन चन्द्रगुप्त को भारत का भावी सम्राट कह कर उसके उत्साह को हजार गुना बढा देता है। अलका अनेक स्थानों पर सहायता पहुँचाती है। राक्षस और पर्वतेश्वर की कथाएँ आरम्भ मे प्रतिकूल हैं किन्तु चाणाक्य की बुद्धि बडे कौशल से उन्हे अनुकूल बना लेती हैं। राक्षस की मुहर के सहारे वह नन्द के मन में षड्यंत्र की शका भर देता है। राक्षस बदी बनता है। इधर राक्षस के सुनाम पर प्रजा विद्रोह कर उठती है। नंद का अंत हो जाता है। पर्वतेश्वर आत्महत्या करना चाहता है। चाणक्य उसके सामने पायश्चित करने का कार्यक्रम रखता है और वह चन्द्रगुप्त की मदद करने लगता है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का पुनर्लग्न मुख्य कथा है। हिजड़ों, बौनों आदि का प्रसंग अनुकूल है क्योंकि वे ध्रुवस्वामिनी के हृदय के विद्रोह को और अधिक प्रज्ज्वलित कर देते हैं और चन्द्रगुप्त को स्त्री का वेष धारण कर शकशिविर में जाने का संकेत करते हैं। कोमा और शकराज की कहानी प्रतिकूल है जो आगे चल कर अनुकूल हो जाती है और फल की प्राप्ति में बड़ी सहायक होती है। शकराज की मृत्यु के उपरान्त शकराज के सामान ध्रुवस्वामिनी के हाथ लगते हैं। इस प्रकार उसके हाथ बहुत सबल हो जाते हैं। रामगुप्त का वह खुल कर विरोध करती है और चन्द्रगुप्त को विधिपूर्वक वरण करती है। इस प्रकार वस्तु-विन्यास में सस्कृत नाटकों की सी जटिलता का आभास तो मिलता है किन्तु उनमें नाट्य (action) का विकास भी शिथिल नहीं पड़ता। गति प्रायः वेगपूर्ण है। गति के इसी

वेगवान् स्वरूप को हम पाश्चात्य नाटकों में देखते हैं और 'वाह' कहने लगते हैं। भारतीय नाटकों में इसी का अभाव लोगों को खलता रहा है। जयशंकर 'प्रसाद' ने भारतीय नाट्यकला को वेग का यह घूँट पिलाया है।

ऊपर निवेदन किया गया है कि भारतीय नाटकों के मूल में कार्य की सिद्धि रही है और पाश्चात्य नाटकों की जड़ मे संघर्ष। इसलिए यहाँ आरम्भ, प्रयत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम, ये कार्य की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं और यूरोप में आरंभ, विकास, चरमसीमा, उतार या निगति और समाप्ति। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में उद्देश्य की प्राप्ति भी है और संघर्ष भी। इसलिए उनके नाटकों में भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित कार्य की अवस्थाएँ भी मिलती हैं और पाश्चात्य शास्त्रज्ञों द्वारा सम्पादित सघर्ष के क्रम भी।

भारतीय नियताप्ति की अवस्था पर कुछ लोगों ने कला के नाम पर आक्षेप किया है। पंडित गणेश द्विवेदी ने कहा है कि 'संस्कृत शास्त्र के नियमानुसार नाटक में पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं, उनमें पहली का नाम 'बीज' होता है। इसके उद्देश्य अर्थात् फलागम की सूचना अन्योक्ति-रूप से आरम्भ ही में दे दी जाती है। इसके उपरान्त इतना सभी को मालूम रहता है कि अन्त में नाटक सुखान्त ही होगा।......इससे होता यह है कि दिलचस्पी एकदम जाती रहती है, कोई कोई संस्कृत के नाटककार फल की सूचना प्रकारान्तर से दे देने पर भी उत्सुकता बड़ी चतुरता से बनाये रखते हैं, पर उनके अनुकरण में हिन्दीवाले ऐसा नहीं कर सकते।'[1] कीथ ने इस विभाग को छिछला (Superfluous) बताया है और आकस्मिकता (Surprise) लाने की राय दी है।[2]

1 सम्मेलन निबंध माला।
2 Sankrit Drama.

बात यह है कि भारतीयों की दृष्टि में कला उद्दीपन नहीं वरन् परिष्कार है। अतः संस्कृत नाटकों की वस्तु आदर्श की एक निश्चित सीमा पर अबाधरूप से पहुँचती है। पश्चिम में वह गति वक्र है। मनोरंजन की दृष्टि से युरोप की कला का अधिक महत्त्व है और आदर्श की दृष्टि से भारतीय कला का। जयशंकर प्रसाद ने बड़े कौशल से अपने नाटकों में भारतीय नियताप्ति और यूरोपीय निगति का मेल कर दिया है। पुस्तक के अंत में वस्तु फलागम पर पहुँच जाती है किन्तु जब तक अपने निर्दिष्ट स्थान पर वह नहीं पहुँच आती तब तक उसकी गति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन हो जाता है। नाटककार ने बड़ी कुशलता से आगे आनेवाली घटनाओं को छिपाया है और अन्त में इच्छित फलप्राप्ति भी हो जाती है। इस प्रकार कला की भी रक्षा हो जाती है और आदर्श की भी। 'अजातशत्रु' इसका एक सुन्दर उदाहरण है। जब वासवी अजातशत्रु को वन्दी-गृह से निकाल लाती है और मल्लिका विरुद्धक के साथ कोशल के लिए प्रस्थान करती है, तो फल (क्षमादान)की प्राप्ति एक प्रकार से निश्चित हो जाती है क्योंकि वासवी और मल्लिका का क्रमशः बिम्बसार और प्रसेनजित् पर बड़ा प्रभाव है। किन्तु इसी समय एक ऐसी घटना घट चुकी है जिसने हमारे मन में शंका उत्पन्न कर दी है। मागंधी विरुद्धक के विरुद्ध फरियाद करती है। मल्लिका विरुद्धक की भर्त्सना करती है और उसे मागंधी से क्षमा माँगने तथा उसे अपनाने का आदेश देती है। विरुद्धक 'सब तरह से प्रस्तुत' है। हम समझने लगते हैं कि विरुद्धक और मागंधी विवाह-बधन में सदा के लिए बँध जाँयेगे किन्तु श्यामा का विरोध हमारे मन की गति को धक्का देकर मोड देती है। इस घटना ने हमारे हृदय में प्रत्येक घटना के अन्तिम स्वरूप को देखने की उत्कंठा उत्पन्न कर दी है। हम उस

दृश्य को देखने के लिए उत्सुक रहते हैं जहाँ विरुद्धक और प्रसेनजित् तथा अजातशत्रु और बिम्बसार का मिलन होता है। इस उत्सुकता का एक और कारण यह है कि अब तक हमने दृढ़ प्रसेनजित् और उदास बिम्बसार की प्रवृत्तियो में किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा अपने पुत्रों के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण नहीं देखा है। और अन्त में प्रसेनजित के उत्कट वात्सल्य और बिम्बसार की आकस्मिक मृत्यु को देख कर हमारी उत्सुकता और आशंका दोनों सार्थक लगने लगती हैं। 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्द और देवसेना दोनों हमारे ध्यान को अंत तक आकृष्ट किये रहते हैं। उनके सम्बध में हमारी जिज्ञासा प्रत्येक अङ्क में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और चौथे अङ्क में जहाँ स्कंदगुप्त कौटुम्बिक अशान्ति और राज्य-विप्लव के बीच अकेला छूट जाने के कारण उद्विग्न हो अपने भाग्य को कोसता है और जहाँ उसके समर्थक महावीर पर्णदत्त, शर्वनाग आदि 'लुटगये-से अनाथ और आश्रयहीन' लगने लगते हैं, हमारी आकंक्षा और उत्सुकता चरमसीमा को छू लेती हैं। हम उनके भविष्य की रूप रेखा निश्चत नहीं कर पाते और विस्फारित आँखों से आगे आने वाली घटनाओं की प्रतीक्षा करते रहते हैं। भटार्क का पश्चात्ताप और सेना का पुनर्निमाण फलप्राप्ति की भावना को निश्चयता देते हैं किन्तु अन्त तक हम छलों मे पलनेवाले भटार्क की ओर शंका से देखते रहते हैं। अन्त में स्कन्दगुप्त विजय-फल की प्राप्ति कर हमारी आकांक्षा को शान्ति पहुँचाता है किन्तु दूसरी ओर देवसेना द्वार पर आए हुए अपने चिर आराध्य स्कन्द को लौटा कर हमारे औत्सुक्य को एक बार फिर झकझोर देती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में शकराज का बध नियताप्ति का अश है क्योंकि इसके कारण ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त रामगुप्त से सबल हो चुके हैं। किन्तु इसके कारण केवल राज्यप्राप्ति

ही निश्चित हुई है। पुनर्लग्न की सम्भावना अब तक सन्दिग्ध है क्योंकि वह तलवार का विषय न हो कर धर्म की वस्तु है। इस लिए हमारी आँखें नाटक के अन्तिम दृश्य में पुरोहित की ओर उत्सुकता से देखती रहती हैं जिनके निर्णय पर ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के जीवन का सारा सुख टिका है। अनुकूल निर्णय होते ही हमारे हृदय में आह्लाद उठता है और उधर अन्तिम पर्दा गिरता है। 'राज्यश्री' में हर्षवर्द्धन का राज्यदंड ग्रहण करने का निर्णय अन्त तक हमें उत्सुक रखता है।

Lope de vega ने कहा था कि सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन नाटक के अन्त में होना चाहिए नहीं तो दर्शक अभिनय से मुँह मोड़ कर चल देंगे।[1]

'प्रसाद' जी ने इस रहस्य का मर्म समझा था।

'प्रसाद' जी के प्रथम नाटक 'सज्जन' की शैली संस्कृतशैली है। उसका आरम्भ नान्दी पाठ और प्रस्तावना से होता है और अन्त भरत-वाक्य से। प्रकृति-वर्णन और संस्कृत छंदों का प्रयोग भी संस्कृत नाटकों के ही अनुकूल है। अन्य नाटकों में प्रस्तावना का अभाव है किन्तु 'विशाख' 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'कामना', 'करुणालय' और 'राज्यश्री' के अन्त में जो पद्य हैं वे वास्तव में भरत-वाक्य की ही श्रेणी के हैं। 'अजातशत्रु', स्कंदगुप्त' 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि में न तो नान्दी है और न भरत-वाक्य। 'सज्जन' को छोड़

---

1 Keep your secret to the end. The audience will turn their faces to the door and their back to the stage when there is no more to learn.

—Lope de Vega.

कर अन्य नाटकों का आरम्भ परिचयात्मक दृश्यों से होता है और 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' को छोड़ कर अन्य नाटकों में व्यापार भी प्रथम दृश्य से ही आरम्भ हो जाता है।

वर्जित दृश्यों का प्रदर्शन भी धड़ल्ले से हुआ है। मृत्यु, हत्या आदि के दृश्य प्रायः उनके सभी नाटकों में है। 'ध्रुवस्वामिनी' में चुंबन का तो नहीं किन्तु आलिंगन का दृश्य अवश्य है। 'अजातशत्रु' में भोजन का भी दृश्य है।

'स्कंदगुप्त' में पाँच अंक है और 'चन्द्रगुप्त' में चार। अन्य नाटकों में तीन अंक है। 'ध्रुवस्वामिनी' में अंक तो तीन हैं किन्तु दृश्यों का अभाव है।

अतः एक ओर नाटककार के प्रकृति-चित्रण, काव्य-प्रियता और परम्परागत हास्य में संस्कृत नाटकों का संस्कार है और दूसरी ओर अंकों के विभाजन, नांदी, सूत्रधार तथा भरतवाक्य के अभाव, व्यापारयुक्त परिचयात्मक प्रारम्भिक दृश्य, और वर्जित दृश्यों के प्रदर्शन में अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव।

नाटककार ने भारतीय नाट्यपद्धति की आत्मा की रक्षा की है और उसके वाह्यांग को युग के नवीन अलंकारों से विभूषित किया है। 'प्रसाद' जी के इस स्वरूप को देख कर भवभूति और भास की याद आ जाती है।

वस्तु-विन्यास से आगे चलकर जब हम चरित्रचित्रण के क्षेत्र में उतरते हैं तो यहाँ भी पूरब और पश्चिम, प्राचीन और नवीन की रीति से बनी मौलिक प्रतिमाएँ देखते हैं। धनञ्जय 'ने नायक के अनेक गुण गिनाये हैं। उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, रक्तलोक, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृति-सम्पन्न, उत्साही,

कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़ तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। आदर्शवादी कलाकार ऐसे ही नायक की कल्पना कर सकता था। अरस्तू ने भी विशालकुलसंभव और प्रख्यात को ही नायक माना है क्योंकि ऐसे ही दुःखपर्यवसायी (Tragic) पात्र के दुःखों का प्रभाव सहृदयों पर पड़ेगा[1]। फिर भी उसने ऐसे व्यक्ति के पतन के लिए दैवी दुर्विपाक अथवा भाग्य के अतिरिक्त चारित्रिक दुर्बलता को भी कारण बनाया है। दुर्बलता के कारण पश्चिम के नाटकीय पात्रों में अन्तर्द्वंद्व की धारा वेग से बहती रहती है। वे कुछ निश्चय नहीं कर पाते और द्वन्द्व में झूलते रहते हैं। भारत के आदर्शवादी कलाकारों ने इस प्रकार की दुर्बलता को प्रगति के मार्ग में बाधक समझा है। इसीलिए इन पात्रों मे भावनाओं का अन्तर्द्वन्द्व नहीं मिलता।[2] दोनों ही जीवन की दो आकृतियों को प्रकट करते हैं जो अकेले अपूर्ण हैं। जीवन एक कठिन संग्राम है। संघर्ष हमलोगों के जीवन के मूल में है। शारीरिक अवयवों से लड़कर हम बाहर आते है। प्रकृति के अवरोधों से युद्धकर हम पनपते हैं। बाह्य विरोधों का सामना कर हम अपने अग-प्रत्यग को पुष्ट करते हैं और अन्तर्वृत्तियों से झगड़कर हम अपनी आत्मा को पुनीत बनाते हैं। मनुष्य के भीतर देव और दानव का संग्राम सदा छिड़ा रहता है। यह जीवन की वास्तविकता हैं। किन्तु

---

1 He must be one who is highly renowned and prosperous—a personage like Oedipus, Thyestes or other illustrious men of such families.

—Poetics 6 Page 47.

2 To Brahmin ideal ibdivisuality has no appeal; the law of life has no room for deviation from type.

—S. D.

इस संग्राम में विजय प्राप्त करना जीवन का महान् उद्देश्य है। विजय प्राप्त करने के लिए सतत् सचेष्ट रहना भी जीवन की यथार्थता है। जयशंकर प्रसाद ने पश्चिम की यथार्थता और भारत की आदर्शवादिता का मेलकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का निरूपण किया है।

द्विजेन्द्र लाल के पात्रों में तूफान है, आँधी है। वे अंधकार में राह टटोलते रहते हैं और प्रायः गुमराह ही रहते हैं।[1] लक्ष्मीनारायण मिश्र की तरह हम यह तो कहने की धृष्ठता नहीं कर सकते कि 'द्विजेन्द्र लाल राय से बढ़ कर अंतःकरण का अंधा साहित्यकार मेरी दृष्टि में कोई दूसरा नहीं, किन्तु इतना अवश्य है कि अंग्रेजी के अंधानुकरण और शील-वैचित्र्य के मोह ने द्विजेन्द्र लाल के अनेकानेक पात्रों को जीवन से दूर कर दिया। जयशंकर 'प्रसाद' के पात्रों में शील-वैचित्र्य के साथ-साथ जीवन की वास्तविकता भी है। इनमें अन्तर्द्वन्द्व तो प्रथम कोटि का है किन्तु अंत में ये पात्र अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करते हैं।

'अजातशत्रु' नाटक में विरुद्धक पिता के तिरस्कार और मल्लिका के आकर्षण से आक्रांत है। वह कोशल छोड़ना चाहता है किन्तु उसके पाँव जैसे बँध जाते हैं।

'यह असहनीय है। धिक्कारपूर्ण कोशल-देश की सीमा कभी की मेरी आँखों से दूर हो जाती, किन्तु, मेरे जीवन का विकास-सूत्र एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बँध गया है।' (अजात० पृ० ६९)

किन्तु माता के यह कहने पर कि 'मेरे दूध का अपमान करने का तुम्हे कोई अधिकार नहीं' वह सचेत और सचेष्ट हो जाता है और प्रतिज्ञा करता है कि 'तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक

---

१ देखिए पृ० ५६

बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहा कर, इस कोशल के सिंहासन पर बैठा कर तेरी वंदना करूँगा।'

मल्लिका को अभी-अभी विदित हुआ है कि उसके पति की हत्या हो गई है और कल ही वह सारिपुत्र मौग्दलायन को निमंत्रण दे आई है। वैधव्य के क्लेश में वह छटपटा रही है किन्तु फिर भी वह अपना कर्त्तव्य नहीं भूलती।

'किन्तु नहीं, सरला! मैं भी व्यवहार जानती हूँ, आतिथ्य परम धर्म है। मैं भी नारी हूँ, नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूँ। शरीर की धमनियाँ खिचने लगती हैं। जी रो उठता है, तब भी कर्त्तव्य करना ही होगा।' (अजात० पृ० १०२)

'चन्द्रगुप्त' नाटक के चाणक्य मे प्रतिहिंसा और ब्राह्मणसुलभ कोमलता तथा निस्पृहता, प्रेम और कर्त्तव्य का प्रबल अन्तर्द्वन्द्व है।
'मगध! मगध! सावधान! इतना अत्याचार! सहना असम्भव है। तुझे उलट दूँगा। नया बनाऊँगा, नहीं तो नाश ही करूँगा!— (ठहर कर)—एक बार चलूँ, नन्द से कहूँ। नहीं, परन्तु मेरी भूमि मेरी वृत्ति, वही मिल जाय; मैं शास्त्र-व्यवसायी न रहूँगा, मैं कृषक बनूँगा।

(चन्द्र० पृ० १७)

'यही तो विषमता है। मैं—अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल; कठोरताओं का केन्द्र! आह! तो इस विषय में मेरा कोई सुहृद नहीं! है, मेरा संकल्प; अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा मित्र है। और थी एक क्षीण रेखा वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ! सुवासिनी! न न न, वह कोई नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ। भयानक रमणीयता है।'

किन्तु हृदय में द्वन्द्व की इस प्रचंड आँधी को रख कर भी वह कर्त्तव्य की लीक से उतरा नहीं। उसने जन्मभूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया, चरणों में झुकी सुवासिनी को राक्षस को सौंप दिया और एक विस्तृत राज्य की स्थापना करके भी वह स्वयं कोपीन धारण किये रहा।

चन्द्रगुप्त के हृदय का अन्तर्युद्ध कुछ कम घनघोर नहीं है।

चन्द्र०—'संघर्ष! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो। मालविका! आशा और निराशा का युद्ध; भावों का अभाव से द्वन्द्व! कोई भी कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है।'

(चन्द्र० पृ० १६४)

किन्तु वह जानता है कि 'यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है कर्म्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना, और कर्मक्षेत्र क्या है जीवन-संग्राम!' वह इस संग्राम मे अपनी शक्ति की परीक्षा लेता है। उत्सव को लेकर उठनेवाले छद्मवेषी विद्रोह के अवसर पर उसने दिखला दिया कि चाणक्य के हाथों में नाचनेवाला वह सत्ताहीन कठपुतला नहीं है। उसे भी अपनी भुजाओं पर भरोसा है। "चिन्ता क्या! सिंहरण और गुरुदेव साथ न दें, डर क्या? सैनिकों! सुन लो, आज से मैं केवल सेनापति हूँ, और कुछ नहीं। जाओ, लो यह मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो। कह देना, कि 'तुम दूर खड़े होकर देखलो सिंहरण! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।' जाओ।"

(चन्द्र० पृ० १८८)

'अदृष्ट! खेल न करना! चन्द्रगुप्त मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है! विजय—मेरे चिर सहचर!'

(चन्द्र० पृ० १९०)

ध्रुवस्वामिनी तो आरम्भ से ही संघर्षों में पलती रही है। एक ओर चन्द्रगुप्त का प्रेम तथा हृदय की पुकार है और दूसरी ओर परम्परा का बंधन तथा समाज की आँख हैं। हृदय की पुकार और परिस्थिति की मांग का संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और वह गिड़-गिड़ाती है—

'मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ, कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई; किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को बहुत सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती है; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।'

(ध्रुव० पृ० २१)

किन्तु जब कायर रामगुप्त उसे 'उपहार की वस्तु' बना कर शक शिविर भेजना चाहता है तो वह रसना से कृपाण निकाल कर आत्म-विसर्जन के द्वारा 'आत्मसम्मान की ज्योति' को बचाना चाहती है। इसी समय चन्द्रगुप्त आ उपस्थित होता है और ध्रुवस्वामिनी तुरत कर्त्तव्य निर्माण करती है—'नहीं, अभी आत्महत्या नहीं करूँगी। जब तुम आ गए तो थोड़ा ठहरूँगी। यह तीखी छुरी इस अतृप्त हृदय में, विकासोन्मुख कुसुम में विषैले कीट के डंक की तरह चुभा दूँ या नहीं इस पर विचार करूँगी।'

(ध्रुव० पृ० २२)

चरित्र साम्य (parallelism in characterisation) एक ऐसी विशेषता है जो संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों में समान रूप से पायी जाती है। जिस प्रकार 'उत्तर रामचरित' की वासन्ती और

अत्रेयी में, 'मालविका' के गणदास और हरिदास में, 'रत्नावली' की सागरिका और रत्नावली में, 'मालतीमाधव' के माधो और मकरन्द में एक ही व्यक्ति की छाया दीखती है उसी प्रकार गाल्सवर्दी आदि के नाटकीय पात्रों में भी कुछ अपूर्व समानता दिखाई पड़ेगी। गाल्सवर्दी के 'दी सिल्वर बौक्स', 'स्ट्राइफ', 'दी एल्डेस्ट सन' और 'फौरेस्ट' इसके उदाहरण हैं। 'फौरेस्ट' के एड्रियन का जो स्थान लन्दन में है वही स्थान जॉन स्टूड का अफ्रिका में है। इस समानान्तरता के कारण लेखक का अभिप्राय अधिक सबल रूप में उपस्थित होता है और बिखरे हुए वस्तु के तंतु मिलकर अभीष्ठ के भाव को पुष्ट रूप में उत्पन्न करते हैं। जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में भी समान पात्रों के अनेक उदाहरण मिलेंगे। अजातशत्रु और विरुद्धक में, मल्लिका और वासवी में और कुछ दूर तक कोमा और ध्रुवस्वामिनी बड़ी समता है।

गाल्सवर्दी की भाँति ही यह समानता कभी २ प्रतिकूलता का भी रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए हम कोमा और ध्रुवस्वामिनी को ले सकते हैं। दोनों ही परिणीता हैं और दोनों ही अपने भाग्य से क्षुब्ध हैं। कोमा शकराज को छोड़ कर चली जाती है और ध्रुवस्वामिनी भी रामगुप्त की अवहेलना करके चन्द्रगुप्त का आलिगन करती है। किन्तु आगे चलकर दोनों की गति भिन्न हो जाती है। कोमा अन्त तक हृदय में शकराज के लिए प्रेम रखती है और उसके कारण उसे अपने प्राणों को भी उत्सर्ग करना पड़ता है। ध्रुवस्वामिनी प्रतिकार कर न केवल अपना वैवाहिक सुख लौटा लेती है वरन् राज्य भी।

जहाँ साम्य अभिप्राय को घनीभूत और वस्तु के समष्टि-प्रभाव को सघन करता है वहाँ वैषम्य एक दूसरे के चरित्र को स्पष्ट करता है और वस्तु में नाटकीयता लाता है। इसका प्रयोग भी प्राचीन और

नवीन सभी नाटककारों ने किया है। 'प्रसाद' जी के नाटक भी इससे वंचित नहीं हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार वीर अथवा शृंगार को नाटक का प्रधान रस होना चाहिए। 'प्रसाद' के नाटकों में भी वर रस ही प्रधान है। गौण रूपसे शृंगार, हास्य, और करुण आए हैं। निर्वहण में अद्भुत रस भी मिलता है। 'अजातशत्रु' के अन्त में गौतम बुद्ध के अभय हाथ उठाने आदि के दृश्य इसके उदाहरण हैं; किन्तु 'प्रसाद' जी के अधिकांश नाटकों का पर्यवसान शांत रस में हुआ है। नरदेव ('विशाख') और राज्यश्री ('राज्यश्री') का काषाय-ग्रहण, चाणक्य और मौर्य ('चन्द्रगुप्त') का निष्क्रमण और आत्यंतिक शान्ति के लिए देवसेना ('स्कंदगुप्त') का प्रस्थान दर्शकों को निर्वेदपूर्ण शांत वातावरण में छोड़ जाते हैं।

इस सिलसिले में पौर्वात्य सुखान्तता और पाश्चात्य दुखान्तता के उस मेल पर भी हमें ध्यान देना चाहिए जो 'प्रसाद' जी की नाट्यकला का सब से अधिक उत्कृष्ट और मौलिक अंग है।

निवेदन किया जा चुका है कि पश्चिम को आरम्भ से जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ा और प्रार्थना करनी पड़ी कि हे भगवान्! यदि तुम प्रसन्न हो तो मुझे आज की रोटी दो। अतः उसने जीवन को कष्टकर और दुःखपूर्ण पाया। किन्तु धन-धान्य के बीच निवास करने वाले भरतीयों ने स्वभावतः भगवान् को आनन्दमय देखा और अपने को उस विराट् आनन्द का एक लघु किन्तु अमर अंश समझा। भौतिक संघर्ष के अभाव के कारण उनकी दृष्टि भी आध्यात्मिक रही। दुःख उनके लिए अन्तिम परिणाम नहीं रहा।

'भारतीय आध्यात्मिक जगत् ने इस प्रकार के उत्पीड़न को परि-

णाम नहीं समझा है। सौंदर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एकदम समूल नष्ट कर देना ही भारतीयों की दृष्टि में सच्ची परिणति समझी जाती है। इस परिणति का व्याख्यान करने वाला साहित्य श्रेष्ठ साहित्य है।......वह अन्तरात्मा के मंगलमय आंतरिक पथ का अवलंबन करके उसके मल को उसी के आँसुओं में धोया करता है, और उसी तत्त्व का चिंतन करते हुए कालिदास ने शेक्सपीयर की भाँति बल को बल से, आग को आग से न शांत कर अपने नाटक में दुरन्त प्रवृत्ति के दावानल को अनुतप्त हृदय के अश्रु-वर्षण से शांत किया है।

'हमारे यहाँ इस जीवन की प्रसूति आनन्दमय भगवान् से मानी गई है और उसी में उसका अवसान भी निर्धारित किया गया है। और क्योंकि हमारी आत्मा आनन्दमय भगवान् का ही एक व्यक्तिकरण है इसलिए उसीके समान यह भी शाश्वत तथा आनन्दमय है; इसे अवश्य अपने आदि स्रोत अथवा अपने जैसे अगणित ज्योतिकणों की समष्टि में मिलकर एक हो जाना है। किन्तु वह अनुष्ठान सदा तपस्या के द्वारा हुआ है। फलतः हमारे यहाँ जीवन के शाश्वत होने के करण उसका अंत सदा ही आनन्दमय रहता आया है और आत्मा को इस पद तक पहुँचाने के साधन तपस्या अथवा क्लेश का पहले अवसान हो चुका होता है। यह बात कालिदास के शकुतला नाटक को देखने से भली भाँति व्यक्त हो जाती है। इस नाटक में भारत के अमर कवि ने पाप को हृदय के भीतर अपनी ही आग से आप ही दग्ध कर दिया है—बाहर से उसे राख में छिपा कर नहीं छोड़ा। इन्होंने दुष्यंत और शकुंतला के चरम मिलन के मध्य आने वाले सभी अमगलों को भष्म करके यह नाटक समाप्त किया है, परिणाम यह होता है कि प्रेक्षकों के मन में एक सशयहीन मंगलमय परिणाम की

शांति छा जाती है ।.....जीवन की जो मनोज्ञ प्रक्रिया नाटकीय क्षेत्र में कालिदास ने खड़ी की भारत के विभिन्न नाटककारों ने अपनी-अपनी रचनाओं में उसी को अंगीकार किया है।[1]

व्यवहार की दृष्टि से भी यह सिद्धान्त बहुत सुन्दर है। दुःख की करालता निहारते रहने से तो जीवन और कठोर हो उठता है। दुःख दुःख चिल्लाने से तो हमारे दुःखों का अन्त नहीं होता, उलटे हमारा जीना दूभर हो जाता है। इसलिए आत्मा को अमर समझ कर प्रेम से उत्पीड़न का अन्त करने की चेष्टा ही श्रेयष्कर है। साहित्य हमारे हित से युक्त है (साहित्य में सहित का भाव) है। अतः इस चेष्टा की ओर ले जाना ही उसका उत्तम आदर्श है।

किन्तु इस चेष्टा के बीच भी क्या हम अपने दुःखों को भूल पाते हैं? प्रयत्नों के होते हुए भी क्या हमारी अनेक आकांक्षाएँ हमारे साथ चिताओं में भष्म नहीं हो जातीं? जीवन भर के परिश्रम के प्रतिकूल भी क्या कितनों का जीवन असफल नहीं रहता? पुनर्जन्म की आशा क्या उन्हे पूर्ण सुख दे पाती है? और आज जब हमारे शत शत प्रयत्न असफलता की चट्टान से टकरा-टकरा कर चूर हो रहे हैं तब तो विषाद ही जीवन वास्तविकता बन गया है। अतः आज का हमारा साहित्य विषाद की छाया से बच नहीं सकता।

एक बात और। जिस जाति की संस्कृति अति प्राचीन है, जिसने मनुष्यों के अनेक उत्थान-पतन देखे हैं, उसकी दृष्टि का कालान्तर में दुःखपूर्ण हो जाना भी स्वाभाविक है। इधर गौतम बुद्ध के बाद दुःख-वाद ने प्रायः सम्पूर्ण राष्ट्र को अभिभूत कर लिया था।

जयशंकर 'प्रसाद' के नाटक बौद्ध काल के है। 'प्रसाद' जी बौद्ध

---

१ साहित्य मीमांसा (सूर्यकान्त शास्त्री)

साहित्य से बहुत प्रभावित थे। वर्तमान जीवन के विषाद ने भी उन पर छाप डाली थी। किन्तु स्वयं वे आनन्द के उपासक थे। अतः एक ओर उन्होंने अपने नाटकों में वेदना की सजल धारा बहाई है और दूसरी ओर उसे आनन्द के अपार सागर से मिलाया है जहाँ वेदना की इस धारा का पता भी नहीं मिलता।

दुःखपर्यवसायी (tragic) चरित्र की दुःखान्तता के लिए अरस्तू ने दुर्भाग्य और चरित्र-दौर्बल्य को आवश्यक माना है। 'प्रसाद' के नाटकीय पात्रों के दुःखो के मूल में भी हम इन्हे देख पायेंगे। पद्मावती पर होनेवाले प्रहार, मालविका के बलिदान और देवसेना की बिदाई में परिस्थिति का व्यंग, भाग्य का अट्टहास और नियति का कुचक्र ही तो हैं। चरित्र की दुर्बलता का कुछ कम हाथ नहीं है। कोमा को अपनी की हुई भूल के लिए अन्त तक पछताना पड़ा और अन्त में प्राण देकर अपनी भूल का मोल चुकाना पड़ा। अतिभावुकता और अव्यवहारिकता के कारण ही देवसेना ने कुछ का कुछ समझ लिया और इस कारण अपने अरमानों से उसे सदा के लिए बिदाई लेनी पड़ी। बिम्बसार की वेदना उसकी अपनी मनोवृत्ति की ही देन है।

पुरुष अपनी भुजाओं की शक्ति के सहारे अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करते हैं किन्तु कोमल-काया नारी उन दुर्बलताओं को जीवन का शृंगार समझकर स्वीकार किये रहती हैं और दर्शकों की दृष्टि में करुणा का केन्द्र बनती है। अतः 'प्रसाद' की दुःखान्तता का सम्बन्ध नारी-पात्रों से है। उनकी 'ट्रेजेडी नारी ट्रेजेडी' है।

किन्तु अंत में इन दुःखपर्यवसायी चरित्रों की वेदना निर्वेद की उस अवस्था को पहुँच जाती है जब वेदना दुःखदायी नहीं होती वरन् आत्यन्तिक शान्ति का कारण बनती है।

इस प्रकार नाटक के अन्त में पुरुष अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कर लेते हैं और दुःखमयी नारी प्रभु के चरणों में अपने को समर्पित कर शान्ति की साँस लेती हैं। अतः प्रसाद के नाटक 'प्रसादान्त' है।

युग-प्रवर्त्तक लेखक युग से कुछ लेता है और युग को कुछ देता है। उसकी रचना में जमाने का रंग भी रहता है और उसके हृदय का रस भी। जयशंकर 'प्रसाद' का रचना-काल वह संक्रान्ति-काल था जब द्विवेदी काल की मान्यताएँ बदल रही थीं और ओट में नवयुग पनप रहा था। नाटक के क्षेत्र में चार प्रकार के नाटकों का प्रभाव पड़ चुका था। वे थे संस्कृत के अनुवादित नाटक, अंग्रेजी के रोमान्टिक नाटक, बंगला के भावप्रवण नाटक और बम्बई की पारसी कम्पनियों के रंगमंचप्रधान थियेट्रिकल नाटक। अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ रहा था—एक तो सीधे अनुवादों के द्वारा[1] और दूसरे बंगला के माध्यम द्वारा[2]।

---

१ अंग्रेजी की पढाई के साथ शेक्सपीयर आदि के नाटकों का स्कूल और कॉलेजों में प्रदर्शन होने लगा तथा धड़ल्ले से उनके अनुवाद निकलने लगे। सन् १८७१ ई० में तोता राम वर्मा ने जोसेफ एडिसन के 'केटो' नामक नाटक का अनुवाद किया जिसका नाम 'केटोवृत्तान्त' है। उसी साल रत्नचन्द ने शेक्सपायर के 'कॉमेडी आफ एरर्स', का अनुवाद 'भ्रमजालक' के नाम से किया। एक साल बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'दुर्लभबंधु' निकला जो 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' का अनुवाद है। १८९३ ई० में मथुरा प्रसाद उपाध्याय शर्मा ने 'मैकबेथ' का अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से किया। तीन साल बाद गोपीनाथ ने 'एज यु लाइक इट' और 'रोमियो एण्ड जुलियट' का अनुवाद क्रमशः 'मनभावन' और 'प्रेमलीला' के नाम से किया था।

२ इधर १७५७ ई० से ही कलकत्ते में पश्चिम की अनुरूपता पर बंगला

नाटकों के नव-विधान का आरम्भ हो गया था क्योंकि अंग्रेज व्यापारी मनोविनोद के साधन ढूँढ रहे थे। १७४७ ई० में एक थियट्र भी कायम हो चुका था। प्रो० विल्सन, मैकाले आदि ने बंगालियों के हृदय में अंग्रेजी नाटकों का प्रेम भरा। इधर 'चन्द्रिका' ने नवीन ढंग के नाटकों के निमित्त आन्दोलन किया और उधर प्रो० विल्सन ने 'उत्तर रामचरित' का अंग्रेजी मे अनुवाद किया। १८३३ में नवीन चन्द्र वसु ने एक नया थियेट्र खोला और इस के बाद ऑरियेन्टल थियेट्र की स्थापना हुई जिस में 'ऑथेलो' 'हेनरी फोर्थ, और 'जुलियस सीजर' खेले गए। १८५२ ई० बंगला नाटकों के लिए एक महत्वपूर्ण वर्ष है क्योंकि उसी साल 'महाभारत' के कथानक को लेकर 'भद्रार्जुन' नाटक रचा गया था जिसका विषय भारतीय है किन्तु मॉडेल युरोपीय। मधुसूदन दत्त ने 'रत्नावली' का अंग्रेजी में अनुवाद किया जिसमें अंग्रेज, अमेरिकन, आदि दर्शकों की रुचि का भी पर्याप्त ध्यान रखखा गया था। 'पद्मावती' 'सुभद्रा' और 'कृष्णकुमारी' उनके प्रमुख नाटक हैं। शेक्सपीयर की भाँति वे अपने दुखान्त नाटकों मे कॉमिक का अंश नहीं रखते। उनके सभी नाटक अंग्रेजी के रोमान्टिक ड्रामा से प्रभावित हैं। इधर पथुरियाघाट थियेट्र में युरोप के वाद्ययंत्र भी ला गए थे। नेशनल थियेट्र का निर्माण मिसेज लेविस की रंगशाला के ढंग पर हुआ था जिस में मिस्टर पाइम शृंगार-निर्देशक थे और विलर्ड चित्रकार। गिरीशचन्द्र ने इसी समय 'विषवृक्ष' 'दुर्गेश नन्दनी' 'मृनालनी' आदि नाटक लिखे। 'चन्द्र' में युनानी नाटकों के ढंग का समवेत गायन है। १९०६ ई० में प्रकाशित होनेवाले 'जैसा का तैसा' में मोलियर की छाप है, 'सतनाम' और 'विषाद' में 'अन्टोनी और क्लेपेट्रा' का प्रभाव है। पुरुष के वेश में नारियों का प्रवेश देखकर शेक्सपीयर का ध्यान हो आता है। इसके बाद द्विजेन्द्र लाल का आगमन होता है जिनके नाटकों के प्रधानताप्राप्त गद्य और विस्तृत नाट्य-निर्देश में शॉ और गाल्सवर्दी का स्पष्ट प्रभाव है।

इसके सम्बन्ध में ऊपर निवेदन कर दिया गया है। अब हमलोग देखें कि बंगला नाटकों से 'प्रसाद' जी का कैसा सम्बन्ध रहा है। हिन्दी में अंग्रेजी के साथ ही बंगला नाटकों का भी अनुवाद चल रहा था।[1] पूरी यात्रा के अवसर पर स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बंगला के इन नाटकों के सम्पर्क में आये थे और उनसे प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी में लिखना आरम्भ किया था।

जयशकर 'प्रसाद' के रचना काल मे बंगला के सर्वश्रेष्ठ नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय जीवित थे। सुनते हैं कि वे प्रसाद जी के घने मित्रों में से थे और प्रायः दोनों नाटक की अनेकानेक समस्याओं पर विचार-विनिमय भी किया करते थे। 'प्रसाद' जी ने उनके अधिक से अधिक नाटक पढ़े होंगे और प्रभावित भी हुए होंगे। कुछ लोगों की राय में प्रसाद जी की मिश्रित नाट्यशैली (जिस में पूरब और पश्चिम की पद्धतियों का मेल है) राय महोदय की देन है। उदयशंकर भट्ट ने 'प्रसाद' के नाटकों की सुखान्तता और उनके 'कर्म करो' वाले सन्देश में द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव पाया है। आपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्यिक नाटक' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि 'मुझे आश्चर्य है कि प्रसाद जी ने दुःखान्त नाटक क्यों नहीं लिखे। उनके नाटकों में वेदना बहुत ही पूर्ण अवस्था मे पाई जाती है। कदाचित् इसका एक कारण

---

१ रामकृष्ण वर्मा ने १८८६ ई० राजकिशोर डे के 'पद्मावती' तथा द्वारिका नाथ गांगुली के 'वीर नारी' नामक नाटकों का अनुवाद किया तथा १८९१ ई० में मधुसूदन दत्त के 'कृष्णकुमार' का। उदितनरायण लाल वकील ने भी १८८९ में हो मनमोहन वसु के सती नाटक का अनुवाद किया था। 'दीपनिर्वाण' और 'अशुमती' नाटकों के अनुवाद १८९५ ई० में प्रकाशित हो चुके थे। इसके बाद गिरीशचन्द्र, द्विजेन्द्र लाल तथा रवीन्द्रनाथ के अनेकानेक नाटक अनुवादित हुए।

अब माना जा सकता है कि वे स्पष्टतः पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का जीवन दुःखान्त नहीं है, किन्तु सुखान्त है। वह सुख मोक्ष है, जिसको पाने के लिए जीव नाना योनियों में अपने कर्मों के फल भोगता हुआ अन्त में मोक्ष तक पहुँच जाता है। मृत्यु इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर एवं अवस्था का परिवर्तनमात्र है।.........अस्तु, नाटककार ने अदृष्टवाद का भय दूर करने के लिए जगत्कारु, गौतम, वेदव्यास आदि पात्रों की सृष्टि बिल्कुल नये उद्देश्य को लेकर की है। शायद यह प्रभाव उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय का है। राय महाशय ने भीष्म नाटक में वेदव्यास से ही संसार के सुख दुःख की परवाह न करके 'कर्म करो' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया है।'

यह सही है कि 'प्रसाद' जी और राय महोदय के नाटकों में बड़ा साम्य है। दोनों के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। दोनों की रचनाएँ कौटुम्बिक, जातीय और विश्व-प्रेम से ओतप्रोत हैं। दोनों के नाटकों में नारी के आदर्शों का जय घोष है। दोनों के पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का उद्वेलन है। कहीं-कहीं कथनोपकथन भी एक दूसरे के प्रतिबिम्ब जान पड़ते हैं। जैसे,

चाणक्य—रे पददलित ब्राह्मणत्व! देख शूद्र ने निगड़ बद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल—एक बार अपनी ज्वाला से जल!

—'प्रसाद' कृत 'चंद्रगुप्त' पृ० ४६

चाणक्य—ऐ कलिकाल के ब्राह्मण! कान खोल के सुन। क्षत्रिय ब्राह्मण से कहता है कि—'दूर हो यहाँ से', तो भी आँधी नहीं उठती, अग्नि-वृष्टि नहीं होती और न पृथ्वी ही काँप उठती है!

—राय कृत 'चन्द्रगुप्त' पृ० २७।

द्विजेन्द्र लाल राय ने 'चन्द्रगुप्त' की रचना वि० संवत् १९६६ में की थी। १९१७ ई० में उसका हिन्दी में अनुवाद भी निकला। 'वही अनुवाद कुछ हेरफेर के साथ कई रूपों में हिन्दी पाठकों के सामने आया।' यद्यपि 'प्रसाद' जी का 'कल्याणी-परिचय' १९१२ ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हो चुका था किन्तु उनका 'चन्द्र गुप्त' नाटक सं० १९८८ वि० में निकला। बहुत सम्भव है कि 'प्रसाद' जी ने द्विजेन्द्र बाबू के नाटक को देखा हो और उससे प्रभावित हुए हों। कहा जा सकता है कि चाणक्य का 'हृदय', कविसुलभ भावुकता और हृदय विदारक करुणा इन्होंने राय महोदय से ली है; किन्तु राय साहब के किसी विशेषत्व की छाप 'प्रसाद' पर पडी हो ऐसा नहीं दीखता। एक प्रकार से 'प्रसाद' जी के नाटक रायकृत नाटकों से अधिक विकसित और परिमार्जित हैं। चाणक्य के चरित्र-लेखन के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमलोगों ने देखा है कि 'इब्सनिज्म' के फेर में पड़ कर द्विजेन्द्र बाबू ने चाणक्य के रूप को कितना विकृत कर दिया है और जयशंकर 'प्रसाद' की समाहारनिष्ठ कला ने किस प्रकार हृदय और मस्तिष्क के स्वाभाविक सामंजस्य के द्वारा चाणक्य के बुद्धिसंगत स्वरूप को उपस्थित किया है। हृदय के साथ मस्तिष्क का, भावुकता के साथ विवेक का और करुणा के साथ विश्वासपूर्ण भक्ति का सामजस्य करके 'प्रसाद' जी द्विजेन्द्र लाल तथा अन्यान्य बंगला नाटककारों से आगे निकल आए हैं।

'बगला नाटकों के अनुवाद द्वारा जहाँ हमारे साहित्य को नाट्य-द्रुतता, और भाव-क्षिप्रता मिली वहाँ अंधड का आवेग, तूफानों की विशालता, अनायास तारकवर्षण, बेमौसम मूसलाधार वर्षा, ओले सभी हमें मिले। सब वस्तुएँ रोमान्स की तरह तेज-दौड़ती हुई, अस्पष्ट-

श्री दीख पड़ीं।...पात्र, भाषा, संवाद सब कुछ साधारण मनुष्य की ऊँचाई से भी ऊँचा, विश्वास से अधिक तीव्र हो गया। आदर्श तो ऐसा कि केवल कल्पना ही वहाँ जा सके। रोमान्स इतना विशाल कि उसमे पाठक चौंधिया उठे। स्पष्टतया हम कुछ भी न देख सकें। मेरे विचार से भावों के इस तूफान ने हमें स्पष्ट दर्शन का अनभ्यासी बना दिया। इसका एक कारण वहाँ की आवेशमूलक शैली और वर्णन अथच भावक्षिप्रता है। साहित्य का यह रूप उसका एक अंश हो सकता है, सर्वांग नहीं, सम्पूर्ण नहीं। इन नाटकों ने हमें अधिकतर कल्पना पूर्ण बनाया, वास्तविक नहीं।' 'प्रसाद' ने बगला नाटकों की इस 'आवेशमूलक उग्र शैली' को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने उनके जोश को होश, आवेश को धीरता, तथा आदर्श को आधार देकर कला के उस सनातन सामञ्जस्यपूर्ण रूप की ओर सकेत किया है जिसका प्रतिपादन भारत सृष्टि के आरम्भ से ही करता आ रहा है।

इधर पारसी-रगमंच के नाटकों का प्रभाव पड़ रहा था और उनके अनुकरण में नाटक लिखे जा रहे थे।[१] ऐसे नाटकों की शैली विशेष

---

१ औरगजेब के शासन-काल में संगीत का शव निकल चुका था। हां नौटकी आदि के दर्शन हो जाते थे। सुनते हैं, अवध के रगीले नवाब वाजिदअली शाह को नाच-गानों का बड़ा शौक था। एक फ्रांसीसी सलाहकार ने उन्हें फ्रेंच ऑपिरा के ढंग पर नाटक लिखवाने की सलाह दी। इसी के फलस्वरूप अमानत ने 'इन्दर सभा' नामक नाटक लिखा जो १८५३ ई० में खेला गया। फिर तो इसकी धूम मच गई। इस प्रकार के नाटकों के प्रदर्शन को स्थायीरूप देकर धनोपार्जन करने के निमित्त सेठ पेस्टन साहब ने, जो एक व्यापारकुशल पारसी थे, बम्बई में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' खोली। इसके अनुकरण में अनेकानेक कम्पनियाँ खुलीं कुछ

शैली होती थी। इनमें हाव-भावों का अश्लील प्रदर्शन होता था। कुढंगे नाच और सस्ते मद्दे गीतों (गजल, दादरा, कव्वाली आदि) की भरमार रहती थी। कथनोपकथन भी प्रायः पद्य में होता था। विकृत हास्य भी इनकी विशेषता थी। भाषा मिश्रित होती थी। पर्दे खूब भड़कीले रहते थे। रंगमंच का निर्माण शेक्सपीरियन रंगमंच के अनुकरण में होता था। भारतीय गानों में युरोपीय ट्यूनिंग भी मिला होता था। एक समय काशी में भी इन कम्पनियों की भीड़ थी। काशी निवासी भारतेन्दु और 'प्रसाद' दोनों ने इन कम्पनियों के नाटक देखे और दोनों ने इसका सैद्धान्तिकरूप से विरोध किया किन्तु भारतेन्दु

पारसियों की और कुछ गैरपारसियों की। चूँकि आरम्भ में पारसी कम्पनियाँ ही प्रमुख थीं इसलिए इसप्रकार की सभी कम्पनियाँ पारसी कम्पनियाँ ही कहलाती थीं। हाँ तो अमानत के 'इन्दरसभा' नाटक के अनुकरण में एक ही वर्ष के बाद हिन्दी में मदारी लाल ने 'अन्दर सभा' और दर्याई ने 'इन्दरसभा' लिखे। इधर उर्दू के लब्धप्रतिष्ठ नाटककार हाफिज मोहम्मद अब्दुल्ला और मिर्जा नजीम बेग ने 'इण्डियन थियेट्रिकल कम्पनी', 'पारसी जुबिली थियेट्र' 'इण्डिया ऑपेरा थियेट्रिकल कम्पनी' आदि की स्थापना की। इन कम्पनियों में खेले जाने के लिए हाफिज मुहम्मद अब्दुल्ला ने शकुन्तला (१८८५ई०) इश्क शीरी व फरहाद (१८८१ ई०) और नजीर बेग ने रामलीला नाटक (१८६० ई०) राजा रखी कृष्ण अवतार (१६६३ ई०) नई चन्द्रावली लासानी (१८६६ ई०) आदि लिखे। इन नाटकों का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी शैली में चुन्नी लाल ने हरिश्चन्द्र नाटक (१८८६ ई०) लिखा और महापतराय ने हरिश्चन्द्र और रामलीला नाटक (१८६० ई०) लिखे। १८६२ ई० में राय साहब मथुरा दास ने 'चन्द्रावली' नामक नाटक की रचना की। देखादेखी अनेक नाटक पारसी नाटकों के पेटर्न पर लिखे गए। अभी हाल तक ऐसे नाटक लिखे जा रहे थे।

और 'प्रसाद दोनों की आरम्भिक रचनाओं में इन पारसी नाटकों के छींटे पड़ ही गए। 'प्रसाद' के नाटकों के अनेकानेक 'सहसा प्रवेश' में, कथोपकथन के पद्यात्मक अंश में, अनुप्रास-प्रधान गद्यांश में, मधुबाला और मधुप्याला के साथ होने वाले नृत्यों में हम इस प्रभाव को देख सकते हैं।

दो शब्द अभिनय के सम्बन्ध में भी। कहा जाता है कि 'प्रसाद' के नाटक अभिनेय नहीं हैं क्योंकि वे बडे लम्बे हैं,[1] उनकी भाषा क्लिष्ट है, कल्पना दुरूह है, गीत अति साहित्यक हैं, प्राचीन वेशभूषा के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है और अनेकानेक ऐसे दृश्य हैं जिनका प्रदर्शन हो नहीं सकता। किन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब एक ओर आलोचक-मंडली इन अभावों के अन्वेषण में शक्ति खर्व करती दीखती है और दूसरी ओर सहृदय समाज उत्सवों और अधिवेशनों में 'प्रसाद' के नाटकों का ही प्रदर्शन करने में सब से अधिक जोश दिखलाता नजर आता है। सच तो यह है कि 'अजातशत्रु' 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' को छोड़ कर 'प्रसाद' जी के और सभी नाटक छोटे है और एक ही बैठक में प्रदर्शित किये जा सकते हैं उनके बड़े नाटकों के भी कुछेक अंकों और कथनोपकथन को छोटा करके उनका प्रदर्शन

---

१ 'प्रसाद' के नाटक लम्बे हैं। इसके दो कारण है—उनकी इतिहासप्रियता और रंगमञ्च का अभाव। जिस समय 'प्रसाद' जी ने लिखना आरम्भ किया था उस समय हिन्दी का स्वतन्त्र रंगमंच नहीं था। कलकत्ते के बँगला रंगमंच, बम्बई के पारसी रंगमंच और दक्षिण के धार्मिक रंगमंच के बीच 'प्रसाद' जी लिख रहे थे। उनका अपना विचार भी यह था कि निम्न श्रेणी के रंगमंच को ध्यान में रख कर नाटक लिखना भूल है। वैसी दशा में साहित्य का विकास रुक जायगा। साहित्य है साध्य और रंगमंच है साधन।

किया सकता है । 'प्रसाद' जी के नाटकों का ऐसा प्रदर्शन हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में हो भी चुका है ।

भाषा और गीत के सम्बन्ध में आरम्भ में ही विचार किया जा चुका है और उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में भी निवेदन किया जा चुका है।[1] 'प्रसाद' के नाटक अवश्य साहित्यिक हैं और इसीलिए वे निम्न (Cheap) नहीं हैं। उपर्युक्त भाषा और गीत के अभाव मे वे वह सब कुछ नहीं दे सकते थे जो वे देना चाहते थे। इन नाटकों की साहित्यिकता तभी तक अखरती है जबतक हम निम्न कोटि के रंगमंच और दर्शकों को ध्यान मे रख कर नाटक-निर्माण की बात सोचते हैं। किन्तु यह एक भूल है। 'प्रसाद' जी ने इसका अनुमान किया था कि निम्न श्रेणी के रगमच और दर्शकों के लिए नाटक लिखना साहित्य को क्षति पहुँचाना है। वैसी दशा में साहित्य का विकास रुक जायगा। साहित्य है साध्य और रंगमंच है साधन। साध्य के लिए साधन को सधना चाहिए।

'रगमंच के सम्बन्ध में यह एक भारी भ्रम है कि नाटक रंगमच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिए रगमच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रगमच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। फिर तो पात्र रगमच पर अपना कार्य सुचारु रूप से करेंगे। इन सब के सहयोग से ही हिन्दी रंगमच का अभ्युत्थान सम्भव है[2]।

'रंगमच की वाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते है, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रगमंच

---

१ देखिए पृ० ६१-१७२

२ काव्य और कला तथा अन्य निबंध

विकसित हुए और रंगमंचों को नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है'।[1] अतः दर्शकों को 'प्रसाद' के पास आने का प्रयास करना चाहिए।

'प्रसाद' जी के नाटकों में कुछ ऐसे दृश्य हैं जो साधारण निर्देशक की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में 'अर्जुन खांडव-दाह करता है और प्राणियों की बड़ी संख्या भस्म होती है'। एक स्थान पर 'सैनिक लोग नागों को एक ओर 'फूस से घेर कर आग लगा देते हैं'। 'विशाख' मे अग्नि का दृश्य है, नदी में कूदने का दृश्य है। 'चन्द्रगुप्त' मे 'एक व्याघ्र समीप आता दिखाई पड़ता है। सिल्यूकस प्रवेश करके धनुष सम्हाल कर तीर चलाता है। व्याघ्र मरता है।' सिन्धु मे नौका आती है, घायल सिंहरण उस पर बैठता है और नाव चलती है। रावी तट पर सैनिकों के साथ मालविका और चन्द्रगुप्त आते हैं। नदी में दूर पर कुछ नावें दीखती हैं। नावें आती हैं। एक नाव तेजी से आती हैं। उस पर से अलका उतरती है। युद्ध के एक दृश्य में यवन सैनिक दुर्ग पर चढना चाहते हे और अलका उन्हे तीर की चोट से गिराती जाती है। तीसरी बार सिकदर ऊपर आता है। तीर बचा कर दुर्ग मे कूदता है और अलका को पकड़ना चाहता है। इनके अतिरिक्त सिन्धु, विपाशा आदि के तटों के अनेकानेक दृश्य हैं। वास्तव में ऊपर के सारे दृश्य अभिनेय हैं, आवश्यकता है केवल कौशल की। आज के वैज्ञानिक युग में जब यांत्रिक रंगमच (mechanized

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृ० ७

stage) और विद्युत-साहचर्य के सहारे म्यूनिक आदि में अति कठिन दृश्यों का भी सहज में प्रदर्शन हो सकता है तो इन दृश्यों का अभिनय आलोचना का विषय नहीं हो सकता।

यह ठीक है कि आरम्भ में 'प्रसाद' जी का ध्यान अनुभूति की ओर अधिक रहा और यह स्वाभाविक भी था। किन्तु आगे चल कर वे अभिनय को भी ध्यान में रखने लगे थे। 'ध्रुवस्वामिनी' इस बात का प्रमाण है क्योंकि उसके प्रत्येक दृश्य के आरम्भ में विस्तृत अभिनय निर्देश (stage directions) दिए गये हैं।

प्रथम अंक—

'शिविर का पिछला भाग, जिसके पीछे पर्वत-माला का प्राचीर। शिविर का एक कोना दिखलाई दे रहा है जिससे सटा हुआ चन्द्रातप टँगा है। मोटी-मोटी रेशमी डोरियों के सहारे सुनहले काम के परदे खम्भ से बँधे हैं। दो-तीन सुन्दर मंच रक्खे हुए हैं। चन्द्रातप और पहाड़ी के बीच छोटा सा कुञ्ज, पहाड़ी पर से एक पतली जलधारा उस हरियाली में बहती है। झरने के पास शिलाओं से चिपकी हुई लता की डालियाँ पवन में हिल रही हैं। दो-चार छोटे बड़े वृक्ष जिन पर फूलों से लदी हुई सेवती की लता छोटा सा-झुरमुट बना रही है।'

शिविर के एक कोने से ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश। पीछे-पीछे एक लम्बी और कुरुप स्त्री चुपचाप नंगी तलवार लिए आती है।'

द्वितीय अंक—

'शकदुर्ग के भीतर सुनहले काम वाले खम्भों पर एक दालान, बीच में छोटी-छोटी दो सीढ़ियाँ, उसी के सामने काश्मीरी खुदाई का सुन्दर लकड़ी का सिंहासन। बीच के दो खम्भे खुले हुए हैं, उनके दोनों ओर मोटे-मोटे चित्र बने हुए तिब्बती ढंग के रेशमी पर्दे पड़े हैं।

सामने-बीच में छोटा-सा आँगन की तरह, जिसके दोनों ओर क्यारियाँ। उनमें दो-चार पौधे और लताएँ फूलों से लदी दिखाई पड़ती हैं।'

तृतीय अंक—

'शक-दुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ। तीन मचों में दो खाली और एक पर ध्रुवस्वामिनी पादपीठ के ऊपर बाये पैर पर दाहिना पैर रख कर अधरों से उँगली लगाये चिंता में निमग्न बैठी है। बाहर कुछ कोलाहल होता है।'

भाई कपिल देव सिंह जी ने अपनी पुस्तक 'मूल्यांकन' में 'प्रसाद' के नाटकों की अभिनयशीलता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अतः उक्त पुस्तक को पढ़ने का आग्रह कर मैं अपने पाठकों से विदा होता हूँ। नमस्ते।